समाजशास्त्र का भारतीयकरण

अशोक कुमार कौल



रावत पब्लिकेशन्स
जयपुर एव नई दिल्ली

ISBN 81-7033-983-9

प्रकाशक
रावत पब्लिकेशन्स
सत्यम अपार्टमेन्ट्स जैन मंदिर रोड
सेक्टर 3 जवाहर नगर जयपुर - 302 004
फोन 0141 - 2651748 2657006 फैक्स 2651748

दिल्ली शाखा
4858 24 अंसारी रोड दरियागंज नई दिल्ली–110 002
फोन 23263290

मुद्रक
नाइस प्रिंटिंग प्रेस नई दिल्ली

श्रद्धेय

माता श्रीमती कमला कौल

तथा

पिता पण्डित वेदलाल कौल

को समर्पित

विषय सूची

द्वितीय भाग

तृतीय भाग

प्रस्तावना

सदैव अनिवार्य रूप से निरन्तर गतिशील रहने के बावजूद सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया एव परिघटनाएँ एक अबूझ पहेली की तरह रही है जो कभी-कभी रहस्यात्मकता एव स्वरूपगत अनिश्चितता के आवरण भी ओढ़ लेती है। समय-समय पर विभिन्न परिप्रेक्ष्यो मे सम्बद्ध सन्दर्भो के साथ सामाजिक परिवर्तनो को जादू, टोना-टोटका, ज्ञान-विज्ञान, वैयक्तिक अनुभव, आध्यात्मिकता, अतीन्द्रियता, अलौकिकता, दर्शन, बोध आदि के विशिष्ट बिन्दुओ तथा उनसे नि सृत एव विकसित उपागमो के द्वारा विद्वानो, बौद्धिको एव विश्लेषको ने इनकी दशा एव दिशा तथा साथ-साथ व्यक्ति, समाज, सस्कृति आदि के सन्दर्भ मे इनकी प्रभाविता के स्तर को अपने स्तर से जानने-समझने के प्रयास किए है, जो अभी भी जारी है। लेकिन इस सम्बन्ध मे आज तक कोई स्पष्ट दृष्टि एव अचूक भविष्यवाणी करने की क्षमता उभर कर सामने नही आ सकी है। इतिहास एव वर्तमान के आलोक मे "आज तक" की विवरणात्मक, अन्वेषणात्मक एव विश्लेषणात्मक प्रस्तुतियाँ अवश्य होती रही हैं लेकिन सामाजिक परिवर्तन एक बिन्दु-विशेष के आगे "कल किस रूप मे हमारे सामने आएगा और व्यक्ति तथा समाज पर उसके प्रभाव किस रूप मे, किस मात्रा मे पड़ेगे और उन प्रभावो का क्या परिणाम होगा" आदि जैसी उपयोगी तथा आवश्यक जिज्ञासाओ के बारे मे प्राय हमारे समक्ष भूल-भुलैयो, अनुमान या उससे भी आगे भ्रम

की ही स्थिति बनी रही है। सम्भवत ऐसा इसलिए कि स्वय सृष्टि के आदि एव अन्त के बारे मे भी अभी हम कोई अन्तिम रूप से मान्य निष्कर्ष निर्मित नही कर सके हैं। यह आज तक विकसित हमारी मानसिक एवं बौद्धिक क्षमताओ की सीमितता का परिणाम भी हो सकता है क्योकि एक "निश्चित दूरी" तय करने के पश्चात् "मन", "मस्तिष्क" एव तद्जन्य बौद्धिकता भी अपने पख समेट लेती है। साथ ही, इस सन्दर्भ मे यह भी महत्वपूर्ण है कि मानवीय पर्यवेक्षण के विविध आयामो के चेतन-अचेतन परिदृश्य मे जो कुछ भी आता है उसका मौलिक आधार उसका वर्तमान ही होता है, भले ही उसकी डोर अतीत से बधी हो और वो भविष्य से अपने सम्पर्क-सूत्र स्थापित करने के प्रयास कर रहा हो। इसी वर्तमान को सुविधानुसार खण्डो मे विभाजित कर कतिपय बिन्दुओ तथा दृष्टिकोणो के सहारे परिवर्तन की प्रक्रिया के परिप्रेक्ष्य मे इसकी गति स्वरूप, करवटो, मोड़ो एव गतिरोधो तथा कारको की पहचान के आधार पर समझने के प्रयास किए जाते है। धर्माधारित रचनाओ अथवा धार्मिक पुस्तको एव ग्रन्थो तथा प्राचीन साहित्य मे सामाजिक-परिवर्तन का एक प्रक्रिया के रूप मे चित्रण-निरूपण चाहे जिस रूप मे किया गया हो लेकिन कही भी किसी भी अनुशासन मे आधिकारिक रूप से इसकी सम्पूर्ण व्याख्या नही ही की गई है। हालाँकि विभिन्न धर्मो ने अपने-अपने ढग से इसकी आदेशात्मक व्याख्याएँ अवश्य की हैं लेकिन आधुनिक तार्किकता एव वैज्ञानिकता के वातावरण मे इनमे से कोई भी सबके द्वारा सहज रूप से स्वीकार्य नही है और परिवर्तन की इन धार्मिक व्याख्याओ मे भी साम्य नही है। जहाँ हिन्दू धर्म परिवर्तन को एक चक्रीय-क्रम, जिसकी परिधि अत्यन्त ही विशाल है, की भाँति मानता है और विश्लेषणात्मक ढग से यह स्पष्ट करने का प्रयास करता है कि परिवर्तन कभी समाप्त नही होने वाली एक क्रमवार प्रक्रिया है और इस सन्दर्भ मे पुनर्जन्म तथा कर्म-सम्बन्धी अवधारणाएँ प्रस्तुत करता है, वही शेष धर्म एव धार्मिक सम्प्रदाय परिवर्तन को एकरेखीय मानते हैं। वो ईश्वर को व्यक्तिकृत करते हैं तथा ये मानते है कि कार्मिक परिमार्जन के सहारे अपेक्षाकृत बेहतर जीवन तथा विश्व की प्राप्ति सम्भव है। ये धर्म विश्व तथा विश्व-व्यवस्था को व्यापक अर्थों मे एक "सरचना"

या "डिजाइन" के अनुसार निर्मित मानते हैं और इसमे बाह्य हस्तक्षेप की किसी भी सम्भावना को नकारते हैं। इसी सरचना या डिजाइन के अवधारणात्मक परिप्रेक्ष्य को कसौटी पर कसने तथा उसे चुनौती देने के लिए आधुनिक विज्ञान ने प्राकृतिक ज्ञान एव समाज-विज्ञान को जोड़कर परिवर्तन को सम्पूर्ण रूप मे सम्भालने के प्रयास प्रारम्भ किए। इन प्रयासो की आखिरी कड़ी आधुनिक युग मे प्रत्यक्षवाद (Positivism) के रूप मे समाने आई। इसके विकास, शाखायी प्रस्फुटन तथा सम्बन्धित वादो-विवादो मे इस सन्दर्भ मे विभिन्न उपागमो, दृष्टिकोणो, अवधारणाओ, सिद्धान्तो तथा अन्तर्वैषयिक अनुशासनो के निर्माण की जो प्रक्रिया प्रारम्भ की वो आज भी जारी है। इसकी व्यापक पृष्ठभूमि 16वी शताब्दी मे बननी प्रारम्भ हुई जब यूरोप ने समुद्रो पर विजय प्राप्त करना प्रारम्भ किया, विश्व के भू-भागो को नापना प्रारम्भ किया तथा साम्राज्यो के विस्तार के द्वारा अपना वैश्विक वर्चस्व स्थापित करना प्रारम्भ किया। इसके परिणामस्वरूप वहाँ दर्शन तथा ज्ञान के क्षेत्र मे भी एक प्रभावशाली क्रान्ति हुई जिसकी व्यावहारिक परिणति हमें वहाँ "पुनर्जागरण" की प्रक्रिया के रूप मे देखने को मिलती है। यूरोप मे पुनर्जागरण के साथ ही प्राकृतिक एव जीवन से सम्बन्धित नियमो को तार्किकता, वस्तुनिष्ठता एव वैज्ञानिकता के बिन्दुओ के आधार पर जानने-समझने की प्रकृति विकसित हुई और इससे प्राप्त ज्ञान (नवीन!) का उपयोग मानव एव समाज के विकास एव कल्याण हेतु करने के व्यावहारिक आदर्श निर्मित किए गए। इसके तत्वाधान मे अठारहवी शताब्दी मे निर्मित "प्रबोध-परियोजना (Enlightenment Project)" मे सामाजिक ज्ञान एक ऐसे ज्ञान के रूप मे स्थापित हो चुका था जिसमे मानव जीवन से सम्बद्ध सरचनाओ मे परिवर्तन, विशेषकर सामाजिक परिवर्तन (Social Change) की प्रक्रिया एव इसके नियमो को जानने-समझने का केन्द्रीय उपागम "प्रत्यक्षवाद (Positivism)" था। इसी परिप्रेक्ष्य मे सतरहवी-अठारहवी शताब्दी तार्किकता की शताब्दियो के रूप मे चिन्हित की गई थी। कालान्तर मे क्रमश तत्सम्बन्धित विचारो के "पैराडाइम (Paradigm)" इस प्रकार विकसित किए गए कि इनमे चाहे वो प्रकार्यवादी (Functionalist) हो या सघर्षवादी

(Conflictist), उन्होने परिवर्तनो की रूपरेखा उद्देश्यात्मक निहितार्थों के परिप्रेक्ष्य मे निर्मित की और सिद्धान्तत प्रत्येक बीतते हुए पल को प्रगति की ओर एक कदम माना। परन्तु व्यावहारिकता के धरातल पर शत-प्रतिशत उनकी योजनाओ का क्रियान्वयन एव अपेक्षाओ की पूर्ति नही हो सकी और इसलिए नही हो सकी कि अपेक्षाकृत तर्कसगत ढग से समाजविज्ञान के नियमो को प्राकृतिक विज्ञान के नियमो को जॉंच (Testification), प्रयोग (Experimentation) तथा सत्यापन (Verification) एव खारिज (Rejection) के मौलिक बिन्दुओ के आधार पर जानने-समझने के उपागम विकसित नही किए जा सके। हालॉंकि इसके पीछे असफलता के कारको का हाथ कम और समाज-विज्ञान की जटिल प्रकृति का हाथ ज्यादा है। ऐसा इसलिए भी है क्योकि परिवर्तन न तो सम्पूर्ण रूप से "पूर्ण (Total)" होता है और न ही "खण्डात्मक (Segmental)"। उसके साथ अतीत की परछाइयो तथा वर्तमान के यथार्थ के साथ-साथ भविष्य के बिम्ब भी होते हैं। इसको Problematics Epistemological Breaks के सहारे विश्लेषित करते है, इस को विगत शताब्दी के आखिरी तरण मे प्रमाणित होता देखा गया जबकि इसके काफी पूर्व, साठ के दशक मे ही प्रकार्यवाद (Functionalism) लुप्त तथा अस्सी के दशक मे मार्क्सवाद (Marxism) दिवालिया हो गया था।इसके बरक्स नई शताब्दी, इक्कीसवी शताब्दी मे तकनीकि ने विश्व को इतना तोड़ और सूचना-तकनीकि (Information Technology) ने इतना जोड़ दिया कि पूर्व-निर्मित एव पूर्व स्थापित "पैराडाइम" अब परिवर्तित हुए परिप्रेक्ष्य एव वैश्विक होते समाजो मे अप्रासगिक तथा "बीती बात" होते जा रहे है। परिवर्तन के आयाम इतने विस्तृत तथा इसकी गति इतनी तीव्र होती जा रही है कि इसने अब नई दिशाएँ ढूँढना प्रारम्भ कर दिया है और परिणामस्वरूप अब नए "पैराडाइम" की आवश्यकता निर्मित हो रही है। इनको सस्कृति, परम्परा इतिहास, लोक-कथाओ, मिथको, किंवदतियो, लोक-कथाओ असम्भवात्मक आख्यानो आदि के सहारे पुनर्संरचित करने के प्रयास भी किए जा रहा हैं। ऐसे वातावरण मे परिवर्तन के जितने भी पहलू एव परिप्रेक्ष्य हमे दिखे

हैं/दिख रहे है, उनको हमने प्रस्तुत पुस्तक मे संकलित समाजशास्त्रीय निबन्धो के सहारे विश्लेषित करने के प्रयास किए हैं। ये विभिन्न निबन्ध समाजशास्त्रीय दृष्टि-बिन्दुओ के साथ-साथ उन कहानियो को भी समेटे हुए हैं जो प्राय अबतक अनकही-अनसुनी रही है। इनके माध्यम से "परिवर्तन" को देश-काल-परिस्थिति, स्थानीयता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता के तत्वो, "शक्ति एव वर्चस्व" के "पैराडाइम" आदि के खतरे को समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से समझा गया है। यहाँ हम माइकल फूको (Michael Focoult) के इस कथन से सहमत हैं कि—"इतिहास की मानसिकता और इतिहास की गति के सिद्धान्त शक्ति एव वर्चस्व मे ही परिलक्षित होते हैं।"

इन निबन्धो की व्यवस्थित प्रस्तुति के सन्दर्भ मे मै अपने प्रिय विद्यार्थी श्री सुशील कुमार का आभारी हूँ जिन्होने अपने श्रम, साहित्यक क्षमताओ, सन्दर्भ की समझ आदि के द्वारा इनको मूर्तरूप प्रदान कर आपके समक्ष प्रस्तुत करने मे मेरी सहायता की है। मैं बिना हिचक के इस बात को स्वीकर करता हूँ कि ये निबन्ध विचारो के रूप मे मेरे मन मे ही सीमित रह गए होते यदि उनकी लेखकीय ऊर्जा और आकर्षक भाषा इन्हे नही मिलती। उनकी भाषा और सम्पादन के सहारे ही ये लेख आप तक पहुँच सके है। मेरा आशीर्वाद सदैव उनके साथ है। इसके साथ-साथ मै अपने माता-पिता, सास-माँ तथा अपनी अर्द्धांगिनी डॉ० श्रीमती अनिता का भी हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होने इस महती कार्य के लिए मुझे एक शान्त, सहयोगपूर्ण एव बौद्धिक वातावरण प्रस्तुत किया। उनके द्वारा प्रदान मानसिक सम्बल के बिना ये निबन्ध इतने गुणवत्तापूर्ण ढग एव शीघ्रता से पूर्ण हो पाते, इसमे सदेह हैं। मैं अपने श्रद्धेय गुरूवर एव समाजशास्त्र के विद्वान प्रो एस के श्रीवास्तव का नमन करता हूँ। मेरी प्रक्षा मे समाजशास्त्रीय पुट का समावेश उनके आशीर्वादो के परिणामस्वरूप ही सभव हुआ है। इस क्रम मे डा आर एन भट्ट तथा श्रीमति विजय पुरी पाण्डेय एव डा मीना लाल के प्रति आभार व्यक्त करते हुए मैं उनके सहयोग को रेखाकित करना महत्वपूर्ण समझता हूँ। दैनिक हिन्दुस्तान, वाराणसी के वरीय फीचर सम्पादक श्री कुमार विजय की भूमिका प्रस्तुत पुस्तक मे सकलित निबन्धो के बारे मे एक

प्रोत्साहक एवं उत्प्रेरक की रही है जिन्होंने हमारी बौद्धिकता को स्वीकारते एवं सम्मान देते हुए एक व्यापक फलक प्रदान किया है। हम ईश्वर से यह प्रार्थना करते हैं और यह विश्वास व्यक्त करते हैं कि आनेवाले समय में स्वयं वो भी पत्रकारिता के क्षेत्र के एक दैदीप्यमान नक्षत्र के रूप में उभरेंगे।

वाराणसी, 2005 — अशोक कुमार कौल

प्रथम भाग

प्रस्तुत निबन्ध संग्रह के प्रथम भाग मे सामाजिक सिद्धान्तो के परिप्रेक्ष्य मे सामाजिक सरचनाओ को समझने के प्रयास किए गए हैं। इसमे कुछ ऐसे मुद्दो को छुआ गया है जिनमे दर्शन, सामाजिक विज्ञानो एव साहित्य तथा ज्ञान की अन्य विधाओ के सहारे सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक प्रक्रियाओ को जन्म देने की क्षमता है। यह भाग वर्तमान मे जारी एव चर्चित स्थानीय से लेकर वैश्विक स्तर की प्रक्रियाओ के सैद्धान्तिक सन्दर्भो पर प्रकाश डालता है।

1

समाजशास्त्र के संदर्भ तथा इसका भारतीयकरण

समाजशास्त्र औद्योगीकरण तथा पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई सामाजिक परिस्थितियो की देन है। यूरोप मे पूँजीवाद के जन्म से लेकर सोलहवी शताब्दी तक 300-400 वर्षो मे फैली तमाम सामाजिक गुत्थियो और समस्याओ को सुलझाने की घोषणा के साथ एक अद्यतन विषय के रूप मे समाजशास्त्र का जन्म हुआ। पूँजीवाद के जन्म से लेकर 16वी शताब्दी और आगे 18वी शताब्दी तक की समयावधि को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से वैज्ञानिक आधार पर हम एकाधिक महत्वपूर्ण भागो मे विभाजित कर सकते हैं। पहला भाग यूरोप मे प्रोटेस्टैंट सम्प्रदाय और "जोखिम-वहन" करने वाली जीवन-शैली और मानसिकता प्रदान करने वाला था। इसका क्रमिक परन्तु दूरगामी परिणाम बाद मे उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, नई सोच और वैचारिकी तथा विपणनवाद के नए दर्शन के रूप मे उभर कर सामने आया। इसे "यूरोपीय-पुनर्जागरण" के दौर के रूप में भी जाना जाता है। इसी क्रम मे 17-19वी शताब्दी की कालावधि मे यूरोप मे पुनर्जागरण को लेकर एक नई सामाजिक-सोच उत्पन्न हुई जो कालातर मे विकसित तथा लोकप्रिय हुई और जो वैज्ञानिक-सोच से मेल खाती थी। बाद मे इसी सोच और दृष्टिकोण के माध्यम से पहले यूरोप और फिर बाद मे सारी दुनिया को जानने-समझने तथा उसे एक तार्किक वैचारिक रूप देने के प्रयास किए गए। इस सोच और दृष्टिकोण का आधार यूरोपीय मानव-संस्कृति, प्रत्येक क्षेत्र मे उभरी नई वैचारिकी तथा राजनीतिक शक्ति थी। यही कारण था कि 18वी शताब्दी

के आते-आते औद्योगिक क्रान्ति ने यूरोप और "शेष-विश्व" के समक्ष "मॉडर्न-प्रॉजेक्ट" प्रस्तुत किया जिसके अप्रत्यक्ष या अव्यक्त परिणामो मे नवीन विषयों का उदय एव विकास प्रमुख था तथा इन विषयो मे सर्वाधिक नवीन विषय "समाजशास्त्र" के रूप मे सामने आया। समाजशास्त्र की विषय-वस्तु, क्षेत्र और इसकी व्यापक उपयोगिता के परिप्रेक्ष्य मे यूरोप ने इसे "अपेक्षाकृत वैज्ञानिक" उपागम वाला विषय बनाने के लिए एक "थीसिस" प्रस्तुत किया। इसके अनुसार वैज्ञानिक सोच और वैज्ञानिक आधार पर बने एक ऐसे नवीन समाज की परिकल्पना की गई जो सपूर्ण रूप से पूर्व की अपेक्षा एक भिन्न और परिवर्तित समाज होगा। यह समाज कुछ उसी प्रकार पूर्व से भिन्न और परिवर्तित होगा जैसे सामाजिक "उद्विकास" से पूर्व की मान्यताएँ "सामाजिक-उद्विकास" द्वारा खारिज कर दी गई और नए सिद्धान्त और मान्यताएँ स्थापित हुई। इस नवीन परिकल्पना मे समाज का वैसा स्वरूप भी शामिल था जिसकी दिशा सीधी होगी और जिसको जानने, समझने और विश्लेषित करने के प्रयास "प्रत्यक्षवाद" के द्वारा किए जाएँगे। इसीलिए तत्कालीन फ्रास और जर्मनी मे हमे इस सोच और परिकल्पना की आधारशिला अगस्ट काम्ट से लेकर जार्ज सिम्मेल तक निहित दिखती है। वास्तव मे, एक नवीन अद्यतन विषय के रूप मे समाजशास्त्र इसी मान्यता पर स्थापित हुआ कि नवीन समाज पुराने समाज से जहाँ पूरी तरह अलग होगा, वही नए समाज के सदर्भ मे ज्ञान और विश्लेषण का आधार व्यापक रूप से "वैज्ञानिकता" और "तार्किकता" का होगा और इस क्रम मे वही "सत्य" होगा या माना जाएगा जो विज्ञान के दायरे मे विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरेगा। चूँकि इस "थीसिस" के पीछे यूरोप की राजनीतिक शक्ति और "वर्चस्व" का अप्रत्यक्ष समर्थन भी था इसलिए धीरे-धीरे यह सारे विश्व द्वारा एक नए विषय के रूप मे अपना ली गई। तब इसका स्वरूप और सदर्भ ज्यो-का-त्यो ही रहा। विश्व के विभिन्न हिस्सो मे एक यही ज्ञान का नया स्वरूप था जिसके द्वारा यूरोप और यूरोप के बाहर भी पद्धति-प्रारूप से नए प्रकार के सामाजिक-सास्कृतिक-राजनीतिक और आर्थिक वर्गीकरण के नए स्वरूप भी प्रस्तुत किए गए। चूँकि ज्ञान का यह नवीन स्वरूप और दृष्टिकोण आधुनिकीकरण की प्रक्रिया द्वारा ही सभव हुआ था, इसलिए इसके तत्त्व तार्किकता,

निरपेक्षता, सदर्भ-सस्कृति, विषयो का चयन आदि के रूप मे स्थापित हुए और परिणामस्वरूप आधुनिक विषयो के श्रेणीक्रम मे समाजशास्त्र को प्रकृति-विज्ञान के ऊपर रखा गया। स्पष्ट रूप से, प्रारम्भिक दौर मे समाजशास्त्र एक यूरोपीय या पाश्चात्य विषयोत्पाद के रूप मे विश्व के समक्ष उभरा था जिसकी जड़े फ्रास और जर्मनी मे तो काफी गहरी और मजबूत थी लेकिन इगलैण्ड मे इसका स्वरूप वैसा ही रहा जैसा कि भारत मे था।

सोवियत सघ के पतन के पश्चात् जब सम्पूर्ण विश्व मे "सूचना-तकनीकी" और "इलेक्ट्रॉनिक-क्रान्ति" ने न सिर्फ दुनिया के विभिन्न भागो को परस्पर निकट ला दिया बल्कि इसके विभिन्न हिस्सो मे नई सोच और नए-विचारो के बीजारोपण भी कर दिए और पुराने परम्परागत यूरोपीय सिद्धान्तो और उनके पैमानो को विस्थापित कर दिया। इसके दूरगामी परिणाम अब हमे संस्थानो के सिमटते अस्तित्व के रूप मे देखने को मिल रहे हैं। प्राथमिक समूह, सामाजिक-स्तरीकरण, सामाजिक नियन्त्रण, समाजीकरण के नए अभिकरण और इनके माध्यम से निर्मित हो रहे समाज की एक नई तस्वीर उभर रही है जिसमे इतिहास द्वारा अब तक उपेक्षित या प्राय विस्मृत कर दिए गए लोगो और वास्तविकताओ की परछाइयो के कलेवर भी शामिल है। इस सपूर्ण प्रक्रिया मे वो प्रश्न एक बार फिर महत्वपूर्ण रूप से प्रस्तुत हो रहे हैं जिनके बारे मे यह माना गया था कि आधुनिकीकरण की प्रक्रिया उनको समाप्त कर देगी, लेकिन ऐसा हो नही पाया। आज "स्व" और "अन्य" ("Self" and "Other") का वर्गीकरण और विश्लेषण नए प्रारूप मे नई शैली मे हो रहा है। ए० गिड्डेन्स के अनुसार "नया युग अनिश्चितताओ का युग है और इसमे इतिहास ने अपनी दिशा खोई है।" इस परिप्रेक्ष्य मे भारतीय परिवेश मे समाजशास्त्र मे संस्कृति के दायरे मे सस्कृति की पारम्परिक शक्तियो और आधुनिक पूँजीवाद की पारस्परिक-टकराहट के परिणामस्वरूप नए 'बेन्ड-बिन्दु' निर्मित हो रहे हैं। भारतीय विचारको के अनुसार एक नया समाज बनाने का प्रारूप बनाने की आवश्यकता है, जिसमे अपनी सस्कृति और इतिहास के उन तत्वो को उभारने और विश्लेषित करने के मुद्दे शामिल होने चाहिए, जिनकी अब तक प्राय उपेक्षा होती रही है। हालाँकि प्रारम्भिक भारतीय समाजशास्त्री

प्राय "घटनाओ-परिघटनाओ" के "सरचनात्मक-प्रकार्यात्मक" विश्लेषण तक ही सीमित रहते थे और "परिवर्तन" के विविध आयामो और पहलुओ से अपने आपको दूर ही रखते थे। उनकी मान्यता थी कि समाजशास्त्र मे न तो यह क्षमता है कि वो परिवर्तन को जाने-समझे और न ही इसके उपकरण इतने दक्ष है कि उनका सहारा लेकर परिवर्तन के सदर्भ मे कोई सार्थक भविष्यवाणी की जा सके। लेकिन इसके विपरीत भारतीय समाजशास्त्रियो का ही एक अन्य समूह, जो कि प्राय "संघर्ष-सम्प्रदाय" से सबद्ध है या "मार्क्सवाद" के पद चिन्हो पर या उनके आस-पास दिखता है, यह मानता है कि वह मानवशास्त्र, इतिहास और साहित्य आदि से सहयोग करके/लेकर सामाजिक परिवर्तन और इसके अभिकरणो की पहचान कर सकता है। इस दृष्टिकोण के मुख्य बिन्दुओ को "लिंग-मुद्दे के शास्त्रीय-साहित्यिक स्वरूप" को नई भूमण्डलीकृत-अर्थ-मीमासा के रूप मे देखा जा सकता है। इसको सिगमड फ्रायड, जैक देरिद्रा, लुकमान की सोच और वैचारिकी के माध्यम से जाँचने-परखने तथा मतभेद और सहमति, धर्म और विज्ञान तथा राष्ट्रनिर्माण की नई चेतनाओ के रूप मे चिन्हित किया जा सकता है। समाजशास्त्र के भारतीयकरण के सदर्भ मे सयुक्त राज्य अमेरिका तथा कनाडा द्वारा क्रमश "संस्कृतियो का मिलन-पात्र" और "सास्कृतिक पच्चीकारी" के रूप मे प्रस्तुत की गई अवधारणाएँ अनुपयोगी और अप्रासगिक सिद्ध हो गई तथा इनके स्थान पर भारतीय समाज तथा तदनुसार भारतीय समाजशास्त्र मे "सम्मिश्र सस्कृति" की अपेक्षाकृत सशक्त तथा स्वीकार्य अवधारणा वैकल्पिक रूप से सामने आई जिसने समाजशास्त्र के सदर्श, सदर्भ तथा उपागम को अपेक्षाकृत व्यावहारिकता के निकट लाने के प्रयास किए है।

उपरोक्त विचारो के व्यापक परिप्रेक्ष्य मे ब्रिटेन मे समाजशास्त्र की स्थिति (1989) पर टिप्पणी करते हुए हलसे लिखते हैं—

"औद्योगिकतावाद की तरह सस्कृति मे समाजशास्त्र का आगमन भी अपेक्षाकृत शीघ्र हुआ, इसकी जड़े भी जमी लेकिन इसका पौधा ब्रिटेन की मिट्टी में कभी भी पूरी तरह से पल्लवित-पुष्पित नही हो पाया। एक लम्बा इतिहास अभी भी अनकहा है और यदि इसे थोड़े मे कहा जाए तो ये उचित नही होगा।"

भारतीय समाजशास्त्र के सदर्भ मे भी यह वक्तव्य उतना ही सत्य है। 1917 मे पहली बार कलकत्ता विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विभाग मे एक विषय के रूप मे प्रारम्भ किया गया समाजशास्त्र दो वर्षो पश्चात् बम्बई विश्वविद्यालय मे एक स्वतन्त्र विषय के रूप मे प्रो जी. एस धुर्ये की अह्म सत्ता मे स्थापित हुआ। एक भारतीय विश्वविद्यालय मे बीसवी शताब्दी के प्रथम 25 वर्षो मे अपेक्षाकृत जल्दी प्रारम्भ होने के बावजूद समाजशास्त्र का अकादमिक विस्तार स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् पचास के दशक मे ही प्रारम्भ हो सका। 1955 मे देहरादून मे प्रथम अखिल भारतीय समाजशास्त्रीय सम्मेलन सम्पन्न हुआ जिसने इसके सतत् इतिहास को प्रतिरूपित और इगित किया। हालाँकि यह भारतीय विश्वविद्यालयो मे एक लोकप्रिय विषय के रूप मे स्थापित हुआ था लेकिन आज भी यह अपनी स्वदेशी अस्मिता के सदर्भ मे सघर्ष कर रहा है।

प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों की दृष्टि और सोच

एक नए विषय के रूप मे भारत मे समाजशास्त्र इस आशा और योजना के साथ प्रारम्भ किया गया था कि यह भारतीय समाज के बारे मे वैज्ञानिक सामान्यीकरणो और निष्कर्षो के माध्यम से राष्ट्र के नीति-नियोजन मे महत्वपूर्ण दिशा-निर्देश प्रदान करेगा। इसका प्रारम्भिक लक्ष्य भारतीय दर्शन की मान्यताओ के आधार पर बौद्धिक परम्पराओ का निर्माण करना था, विशेषकर इसके भौतिक पक्ष के सदर्भ मे। इसके प्रारम्भिक अध्येताओ **जी.एस. घुर्ये, घुर्जटी प्रसाद मुखर्जी, राधाकमल मुखर्जी और आर.एन. सक्सेना** आदि ने भारतीय समाजशास्त्र के दर्शनशास्त्रीय सैद्धान्तिक अभिमुखीकरण की दिशा मे गम्भीर और सफल प्रयास किए। उन्होने "शास्त्रीय भारतीय मान्यताओ" के हित मे पाश्चात्य समाजशास्त्र के अनुभावाश्रित (इम्पीरिकल) स्वरूप को नकार दिया। उनकी मान्यता थी कि "सामाजिक-उद्विकास" का पाश्चात्य सिद्धान्त भारतीय समाज के सदर्भ मे अप्रासगिक है। व्यापक रूप मे उन्होने कर्म, धर्म, पाप, पुण्य, माया, ससार, अर्थ और मोक्ष के सिद्धान्तो के अस्तित्ववादी तत्वो को स्वीकार किया। उनके अनुसार हिन्दू-दर्शन के ये आवश्यक तत्व जाति की सरचना,

जीवन के चार चरणो (आश्रम-व्यवस्था), संयुक्त परिवार व्यवस्था और विवाह जैसी सस्थाओ से जुड़े हुए है और आपस मे मिलकर ये भारतीय समाज की सांस्कृतिक सततता की *वानिकी* का निर्माण करते हैं। इन्होने बारम्बार भारत मे पाश्चात्य मानवविज्ञानियो और समाजशास्त्रियो के शोध-अनुसधानो की आलोचना की और उनके द्वारा भारतीय वास्तविकताओ को अपने अकादमिक लक्ष्यो की पूर्ति हेतु तोड़-मरोड़कर गलत विश्लेषण के रूप मे प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति पर भी प्रश्न-चिन्ह लगाए। उन्होने यह दावा किया कि पाश्चात्य शोधकर्मियो द्वारा भारत का ऐसा वैचारिक विश्लेषण यहाँ की सास्कृतिक-हीनता और निर्भरता से जुड़ा हुआ था। डी.पी मुखर्जी ने इस विचार को स्थापित किया कि चूँकि भारतीय सामाजिक व्यवस्था का मौलिक आधार "सघ" तथा "समुदायवाद" है, इसलिए भारतीय सामाजिक सरचना को "व्यक्ति" की पाश्चात्य अवधारणा के सहारे समझ सकने का कोई तुक और तात्पर्य ही नही है। धुर्ये ने जहाँ पाश्चात्य सामाजिक मानवशास्त्र द्वारा "जनजाति" और "जाति" मे प्रस्तुत किए गए अन्तर को नकारा तो वही राधाकमल मुखर्जी ने प्रजातन्त्र के बारे मे पाश्चात्य अवधारणाओ की आलोचना की (सिह, 1984, पृ 16)। इन सारे प्रयासो के माध्यम से उनका उद्देश्य भारतीय समाजशास्त्र की एक सुदृढ़ स्वदेशी दार्शनिक परम्परा का निर्माण करना था तथा उनके स्वय के शोधकार्य इसी दिशा मे थे।

इस अवधि के दौरान, पचास के दशक मे भारतीय शोध-सहायको और शोधकर्ताओ के सहयोग से भारत मे अनेक विदेशी मानवशास्त्री और समाजशास्त्री शोध के क्षेत्र मे कार्यरत थे। उक्त समाजशास्त्रियो ने समय-समय पर "कन्ट्रीब्यूशन टू इण्डियन सोशियोलॉजी" नामक पत्रिका और अन्य पत्रिकाओ मे अपने पत्रो एव लेखो के माध्यम से भारतीय शोधकर्ताओ की पद्धति और मशा पर आपत्तियाँ जताई। इनमे ड्यूमों, पोकाक, बैली आदि की आवाजे प्रमुख थी जिन्हे कुछ युवा भारतीय समाजशास्त्रियो का वैचारिक और व्यावहारिक समर्थन प्राप्त था। एक आलोचनात्मक लेख के माध्यम से बैली ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया था कि भारतीय

समाजशास्त्र के पितामहो की मशा भारतीय समाजशास्त्र को हिन्दू-मूल-व्यवस्था से जोडने की है न कि इसका व्यापक स्वदेशी आधार बनाने की। उन्होने लिखा कि ––

"भारतीय उपमहाद्वीप मे रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए भारतीय समाज से तात्पर्य विचारो और मूल्यो (व्यवहार को यदि छोड़ भी दिया जाए) से है। इसमे मुझे कोई सदेह नही है कि सम्पादकगण हिन्दूवाद, बुद्धवाद, इस्लाम, ईसाइयत, उपयोगितावाद, मार्क्सवाद, समाजवाद और उन अन्य सारे विचारो और मूल्यो मे कुछ सामान्य आधार ढूँढ सकने मे सक्षम हैं जो भारत मे सामाजिक-व्यवहार के सदर्भ मे प्रासगिक है, और इसके लिए गुत्थियो मे एक क्रम ढूँढ़ने के लिए कम प्रयास नही किए हैं। लेकिन, वास्तव मे, वे सभी मूलत मूल्यो की सिर्फ एक ही व्यवस्था से सबद्ध है और वह है हिन्दूवाद।" (बैली, 1959, पृ. 91)

इसी प्रकार पाश्चात्य सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से हिन्दूवाद के मौलिक बिन्दुओ का ड्यूमाँ ने एक भिन्न विश्लेषण किया है। वो लिखते हैं कि ––

"वर्णो की श्रेणीगत सरचना भारतीय हिन्दू सामाजिक व्यवस्था मे काफी महत्वपूर्ण और सुस्पष्ट है धर्म ब्राह्मण या पुजारियो से, अर्थ तथा शासकीय शक्ति क्षत्रियो से तथा काम अन्यो से सबद्ध है। यही नही, इस सदर्भ मे टालकट पार्सन्स के सरचनात्मक विश्लेषण के सहारे इस दिशा मे और भी आगे जाया जा सकता है। उदाहरण के तौर पर प्रथमत काम अन्य दो पुरुषार्थो का विरोधी प्रतीत होता है क्योकि बौद्धिक और नैतिक-निर्धारण की प्रक्रिया मे यह अपने विषयात्मक स्वरूप के कारण बाधा पहुँचाता है। साथ ही, जहाँ धर्म नैतिक विश्ववाद का प्रतिनिधि है, वही अर्थ अहवाद के रूप मे जाना जाता है, कुछ-कुछ हमारे आर्थिक सिद्धान्तो की तार्किक क्रियाओ की तरह––लेकिन कर्म का विस्तार राजनीति तक दिखता है क्योकि यहाँ सम्पत्ति शक्ति से थोडी श्रेष्ठ दिखाई देती है जहाँ अर्थ काम का विरोधी प्रतीत होता है क्योकि दोनो ही अन्तत परस्पर भिन्न प्रकार से सन्तुष्टि प्रदान करते हैं। वही विशेष लक्ष्य से अन्तिम लक्ष्य के सन्दर्भ मे धर्म अपनी पवित्रता की सकल्पना के साथ दोनो का ही विरोधी दिखता है। पार्सन्स की भाषा मे काम अभिव्यक्त क्रिया है, अर्थ साधनात्मक क्रिया है और धर्म नैतिक क्रिया है। यह तिकड़ी क्रिया के प्रकारो का

विशेष वर्गीकरण करती है जो परस्पर विरोधो की व्यवस्था पर आधारित है।" (ड्यूमॉ, 1960, पृ 41)

इन पाश्चात्य समाजशास्त्रियो के मजबूत दृष्टिबिन्दु और तार्किकता पर आधारित विश्लेषण शैली ने आने वाली पीढ़ी के समाजशास्त्रियो को गहराई से प्रभावित किया, विशेषकर बढ़ते अमेरिकी इम्पीरिकल शोध के संदर्भ मे। आगामी वर्षो मे समाजशास्त्र का दर्शन भारतीय अभिमुखीकरण अपने धरातल पर पहुँच गया और अन्तत ए के सरन ही एक ऐसे समाजशास्त्री के रूप मे बचे रहे जो वेदान्त आदि की मान्यताओ पर आधारित ज्ञान के समाजशास्त्र और सामान्यीकरण की प्रक्रिया को जारी रखा है। वे लिखते है कि—

"The historic roots of the ideas of a planned social order go back to the break up of the world view founded, among other, on the ideas of the Great Chain of Being The immediate positive reaction to the traditional world view was to substitute the transcedental institution of order by an imminent conception of the social systems"

एक महत्वपूर्ण सामान्यीकरण के रूप मे वे ड्यूमॉ द्वारा भारतीय सामाजिक व्यवस्था के किए गए विश्लेषण को नकारते हैं और दावा करते है कि ड्यूमॉ ने भारतीय सामाजिक व्यवस्था की मूल्य-व्यवस्थाओ पर आवश्यकताओ से अधिक गहरी दृष्टि डाली है सामाजिक यथार्थ का कोई बाह्य पक्ष नही है और यदि कोई है तो वह एक पारस्परिक सस्कृति के रूप मे इसका विश्लेषण है। फिर भी उनके लेख एकल अभिव्यक्ति का माध्यम बने रहे। अगली पीढ़ी के समाजशास्त्रीयों ने न सिर्फ "*पायनियर*" समाजशास्त्रियो के दृष्टि-बिन्दुओ की आलोचना की और उन्हे नकार दिया बल्कि उन्होने पाश्चात्य-प्रारूप के साथ भारत मे समाजशास्त्रीय शोध-अन्वेषण के क्षेत्र मे "आनुभविक (इम्पीरिकल) शोध" की नीव डाली। परिणामस्वरूप समाजशास्त्र का दर्शनशास्त्रीय अभिमुखीकरण उपेक्षित ही बना रहा जिसके लिए

इसके *"पायनियर"* समाजशास्त्रीयो ने गहन वैचारिक कार्य और प्रयास किए थे। हालाँकि इसमे भी कोई सदेह नही है कि स्वय इन प्रारम्भिक भारतीय समाजशास्त्रियो ने प्राचीन अभिलेखो के आधार पर भारतीय समाज का विश्लेषण करते हुए उन बिन्दुओ की ईमानदारी से आलोचनाएँ भी की जो विश्लेषण के क्रम मे भारतीय सामाजिक यथार्थ और तार्किकता से मेल नही खाते थे, लेकिन हमे यह नही भूलना चाहिए कि उनके वे प्रयास इस दिशा मे प्राय प्रथम और अन्तिम प्रयास थे। वे एक ऐसा समाजशास्त्रीय सिद्धान्त निर्मित करना चाहते थे जिसकी जड़े भारतीय सामाजिक विचारो पर आधारित हो। इस सदर्भ मे यह कहना महत्त्वपूर्ण होगा कि ये विद्वजन पाश्चात्य वैज्ञानिक अन्वेषण के महत्व और उपयोग से अनजान नही थे, जैसा कि बॉटोमोर इगित करते है —

"कुमारास्वामी जैसे परम्परागत विचारको मे उनकी गहरी रुचि से तात्पर्य यह नही था कि वो रूढिवादी थे। वे भली-भाँति पाश्चात्य समाजशास्त्र और दर्शनशास्त्र, मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद भाषिक दर्शनशास्त्र और विज्ञान के आधुनिक दर्शनो से परिचित है तथा वैचारिक दृष्टिकोण के इस ओर काफी सक्रिय भी है। लेकिन उनकी समस्याओ पर आगामी पीढ़ी के समाजशास्त्रियो द्वारा और भी कार्य करने की आवश्यकता थी परन्तु ऐसा हुआ नही।" (बॉटोमोर, 1960, पृ 101)

दृष्टिकोणों और विवादों के प्रभाव

पाश्चात्य समाजशास्त्र के प्रभाव से भारतीय समाजशास्त्र का केन्द्र बिन्दु इसके "पायनियर" भारतीय समाजशास्त्रियो के स्थापना-स्थल से हट गया। आने वाले दशको मे यह वेबर-पार्सस प्रारूप और ऐतिहासिक-द्वद्ववादी उपागम पर आधारित विवरणात्मक सास्कृतिक अध्ययनो और विश्लेषणात्मक कार्यो पर केन्द्रित हो गया। ये सास्कृतिक-मानवशास्त्रीय अध्ययन मुख्यत पचास के दशक के अन्त मे और साठ के दशक के प्रारम्भ मे किए गए थे। इन कार्यो ने जाति-व्यवस्था मे श्रेणीक्रम (सस्तरण) मे हुए परिवर्तनो की प्रकृति, सयुक्त-परिवार-व्यवस्था, विवाहादि सामाजिक संस्थाओ और पश्चिमीकरण तथा आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओ पर

अपना ध्यान अधिक केन्द्रित किया। इस दिशा मे दूबे (1958), मजूमदार (1958), श्रीनिवास (1966), चौहान (1967), सिगर (1958) आदि ने महत्वपूर्ण प्रयास और कार्य किए। श्रीनिवास का शोध कार्य काफी महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ और इसने भारतीय समाजशास्त्र पर एक गहरा प्रभाव डाला। श्रीनिवास ने मर्टन के सन्दर्भ-समूह सिद्धान्त के प्रारूप के आधार पर "प्रभु-जाति और सस्कृतिकरण" की सकल्पनाएँ प्रस्तुत की और इनके द्वारा जाति-व्यवस्था मे हो रहे ऊर्ध्व गतिशीलता को प्रदर्शित किया गया। सस्कृतिकरण की परिभाषा देते हुए वो लिखते है कि—

"वह प्रक्रिया जिसमे एक निम्न जाति अथवा जनजाति अथवा समुदाय किसी उच्च और द्विज जाति के कर्मकाण्डीय विश्वास, प्रथाएँ, वैचारिकी और रहन-सहन के तौर-तरीके अपनाती है।" (श्रीनिवास, 1966, पृ 67-68)

उनके अनुसार, "प्रभुजाति" निम्न जाति के लिए एक बेहतर स्तर प्राप्त करने मे सदर्भ प्रारूप की भूमिका निभाती है। यह तादात्मीकरण का एक नया अन्वेषण था जिसने भारतविदो और मानवशास्त्रियो के बीच समान रूप से गम्भीर बहसो को जन्म दिया। इसने उन लोगो को भी प्रसन्न और सन्तुष्ट किया जो राष्ट्रीय साख्यकीय घटनाओ के विश्लेषण के लिए भारतीय अवधारणाओ के विकास की आवश्यकता महसूस करते थे (सिह, 1977, पृ 99)। हालाँकि निम्न जातियो द्वारा राजनीतिक शक्ति हासिल करने के लिए किए जाने वाले प्रयासो ने इस सिद्धान्त को अधिक समय तक पूर्ण रूप से वैध नही रहने दिया क्योकि विश्लेषण के क्रम मे इसने "शक्ति" जैसी महत्वपूर्ण अवधारणा का कोई उल्लेख और प्रयोग ही नही किया था। बाद मे इसका प्रयोग तत्कालीन समाजशास्त्रियो द्वारा वेबर-पार्सन्स विश्लेषण प्रारूप के आधार पर किया गया।

तत्कालीन समाजशास्त्रियो द्वारा भारत मे किए गए विश्लेषणात्मक अध्ययनो ने भारत मे मार्क्स और वेबर को सुपरिचित और महत्वपूर्ण कर दिया। ये अध्ययन सरचनात्मक अध्ययनो के रूप मे विभिन्न श्रेणियो यथा जाति, वर्ग और शक्ति का विश्लेषण भारतीय समाज मे स्तरीकरण और परिवर्तन का विश्लेषण करने

के क्रम मे धड़ल्ले से करते है। इस दिशा मे आई.पी. देसाई (1964), मदान (1965), रोजेन्थल (1970), कोहन (1971), ओमन (1972), शाह (1973), बेतेइ (1965, 1969, 1975) और सिह (1973, 1977) के योगदान उल्लेखनीय है। बेतेइ (1965) ने सामाजिक स्तरीकरण पूर्व के अध्ययनो से हटकर पहली बार ग्रामीण समुदायो के सदर्भ मे शक्ति की अवधारणा की सहायता ली। उन्होने बताया कि—

"आज राजनीतिक शक्ति, चाहे वो गाँव मे हो या गाँव के बाहर, अब पहले की तरह भू-स्वामित्व से जुड़ी नही रह गई है। अब कुछ हद तक जाति पर निर्भर शक्ति के नए आधार निर्मित हो गए है। इसमे सम्भवतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण इसके आकिक-स्वरूप की मजबूती है।" (बेतेइ, 1965, पृ.199)

उपरोक्त अध्ययनो के अलावा मार्क्सवादी पद्धति के माध्यम से भी वैचारिक रूप से महत्वपूर्ण कार्य हुए है। इन अध्ययनो ने ऐतिहासिक-द्वद्ववादी उपागम के सहारे *औपनिवेशिक शासन और उपनिवेशोत्तर काल मे उत्पादन की पद्धतियो के आलोक मे* पूँजीवादी विकास के तत्वो को भी उधेड़ने का काम किया है। इस क्षेत्र मे ध्यान देने योग्य योगदान ए आर देसाई (1966, 1975), जोशी (1971) और मट्टो (1991) के हैं। ये सारे अध्ययन योगेन्द्र सिह द्वारा (1973, 1977, 1989) एक व्यवस्थित सरचनात्मक स्वरूप मे रखकर विश्लेषित किए गए हैं। उन्होने इस्लाम-काल से लेकर स्वातन्त्योत्तर काल तक की अवधि मे भारतीय परम्पराओ के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को विश्लेषित करने के लिए अवधारणात्मक प्रारूप प्रस्तुत किया। भारतीय समाजशास्त्र के बारे मे सिह लिखते हैं—

"सैद्धान्तिक दिशाओ और इसके विचारको की परिवर्तनशील सरचना की समीक्षा के लिए समाजशास्त्र की समीक्षा चार दौरो के आधार पर करना अधिक उपयोगी होगा 1952 से 1960 की अवधि प्राथमिक तौर पर तादात्मीकृत परिवर्तनो और अन्वेषणो का दौर था, 1960 से 1965, का काल भारतीय समाजशास्त्र मे सैद्धान्तिक प्राथमिकताओ मे महत्वपूर्ण बदलाव और सिद्धान्त और वैचारिकी के मध्य

कुछ तीक्ष्ण तनावो के उभार का दौर था; 1965 से 1970, का काल अंकित समाजशास्त्रीय स्व-जागरुकता और नई दिशाओ के विकास का दौर था जो ज्ञान के नए क्षितिजो, सिद्धान्तो को सामने ला रहा था।" (सिह, 1984, पृ 80)

साठ के दशक मे किए गए कार्य (विवरणात्मक सास्कृतिक अध्ययन) भारत को पश्चिम मे परिचित कराने की दृष्टि से किए गए कार्यो मे अच्छे और सफल कार्य थे, ठीक उसी प्रकार से जैसा कि पश्चिमी लोगो ने चाहा था। उसी प्रकार सत्तर और मध्य अस्सी के दशक मे किए गए सरचनात्मक विश्लेषण पर आधारित कार्य भी उधार के प्रारूपो की सहायता से सामाजिक-संस्थाओ और प्रक्रियाओ के अध्ययन मे आगे नही जा सके। इस अनुशासन (विषय) मे अध्येतागण आधुनिक राष्ट्रीय मुद्दो, जाति-आधारित आरक्षण, "मन्दिर-मस्जिद विवाद" आदि के विश्लेषण के सदर्भ मे कुछ प्रस्तुत नही कर सके जिन्होने सम्पूर्ण राष्ट्र को बुरी तरह प्रभावित किया है। ऐसा इसलिए क्योंकि यह अनुशासन (विषय) अभी तक इनका मूल्याकन ही नही कर पाया है, यहाँ तक की इसकी विषय-वस्तु पर अभी भी सन्देह के बिन्दु उठाए जाते रहे हैं।

वर्तमान स्थिति

भारतीय विश्वविद्यालयो मे अन्वेषणात्मक उपागम वाले पाश्चात्य प्रारूपो और सिद्धान्तो को अपनाने के बावजूद समाजशास्त्र अब तक सार्वजनिक मुद्दो से प्राय परे ही रहा है। दलाली, कमीशन, साम्प्रदायिकता, आतकवाद और सजातीय-राष्ट्रवाद जैसी समस्याएँ अभी भी समाजशास्त्र द्वारा या तो अछूती रही है या उनका पर्याप्त ढग से वर्णन नही किया गया है। भारतीय समाज मे हो रहे नवीन परिवर्तनो के विश्लेषण ने उभरती सोच मे पाश्चात्य-सिद्धान्तो की सीमाओ को अब और भी अधिक स्पष्ट करना प्रारम्भ कर दिया है।

आधुनिकीकरण का 'मिलन-पात्र-सिद्धान्त', जिसने उप-सस्कृतियो के परस्पर एक राष्ट्रीय सस्कृति के रूप मे मिल जाने की वैचारिकी और प्रक्रिया को व्यापक तौर पर आगे बढाया था, वो सफल सिद्ध नही हुआ बल्कि उल्टे इसने अन्य कई सस्कृतियो को एक दूसरे के समक्ष आक्रामक ढग से ला खड़ा किया। इसी प्रकार

आज हमे "जाति" आधारित तनाव एव संघर्ष कही अधिक व्यापक और गहरे रूप मे दिखाई देते है। इन सभी मे भारतीय समाजशास्त्रियो द्वारा उधार के प्रारूपो पर किए गए कार्यो की अप्रासगिकता और अव्यावहारिकता अब सुस्पष्ट हो रही है, वह भी तब जब इन प्रारूपो को स्वय पश्चिम मे नई चुनौतियाँ मिल रही हैं और उन्हे व्यावहारिकता की कसौटी पर कसा जा रहा है। पहला तो यह कि साठ के दशक मे राजनीतिक परिवर्तनो और सारी दुनिया मे आदोलनो के कारण पार्सन्स के प्रारूप ने अपना आकर्षण खो दिया। साठ के दशक मे सरचनात्मक प्रकार्यवाद की कमज़ोरियॉ इस रूप मे सामने आई कि इससे न सिर्फ समाजशास्त्र की अस्मिता पर प्रश्नचिन्ह लगने लगे बल्कि इसकी पद्धतियो का अस्तित्व भी खतरे मे पड़ने लगा था।

और नब्बे के दशक के बाद हम ये देखते हैं कि मार्क्सवादी अक्खड़ता भी एक झटके से समाप्त हो गई। इन स्थापित और स्वीकार्य सिद्धान्तो पर लगे ग्रहणो का भारतीय समाजशास्त्र पर भी गम्भीर प्रभाव पड़ा। स्थिति यह हो गई है अब कि पचास के दशक मे भारतीय समाजशास्त्र के प्रारम्भिक समाजशास्त्रियो द्वारा प्रस्तुत किए गए अध्ययन-प्रारूप और विषय-बिन्दुओ पर एक बार फिर से विचार किया जाने लगा है ताकि उन्हे पुन· नए रूप मे एक प्रासगिक समाजशास्त्र के निर्माण हेतु प्रयोग मे लाया जा सके। इस स्थिति को एक आलोचनात्मक स्वीकारोक्तिपूर्ण लेख मे **श्यामाचरण दूबे** ने इस प्रकार प्रदर्शित किया है —

"हम एशियाई समाजशास्त्रियो ने पश्चिम से कई समाजविज्ञानो को सीधे आयात और उनका उपयोग अपने व्याख्यानो को तैयार तथा प्रस्तुत करने मे किया है, लेकिन एशियाई वास्तविकताओ से उभरे रचनात्मक सिद्धान्तो का निर्माण करने मे ये नितान्त ही अक्षम रहे है, जिसके बिना हम अपने सदर्भो मे समाजशास्त्रीय लक्ष्यो की प्राप्ति नही कर सकते। आवश्यकता इस बात की है कि इस स्थापित प्रभावी पश्चिमी प्रारूप की पकड़ को पहले ढ़ीला और फिर समाप्त कर दिया जाए।" (दूबे, 1982, पृ 498)

इस परिप्रेक्ष्य मे बौद्धिक-औपनिवेशिकता से मुक्ति हेतु समाजशास्त्रीय मुद्दो का भारतीयकरण और सैद्धान्तिक-विश्लेषणात्मक आत्मनिर्भरता की दिशा मे गम्भीर

प्रयास किए जा रहे है ताकि अपनी स्वय की बौद्धिक परम्पराएँ विकसित की जा सके। हालाँकि इस कार्य हेतु यहाँ पर्याप्त रूप मे ऐतिहासिक दार्शनिक परम्पराओ का ताना-बाना पहले से ही था लेकिन गुमनामी के कारण भारतीय समाज के प्रारम्भिक समाजशास्त्रियो को इन्हे नए रूप मे खोजना पडा है। सबसे बढकर समाजशास्त्र को अपने व्यावहारिक लक्ष्यो की प्राप्ति हेतु अन्य विषयो और अनुशासनो के साथ पारस्परिक सहयोग के माध्यम से राष्ट्रीय मुद्दो और सार्वजनिक बहसो के साथ आगे बढना होगा। तभी यह अपने वायदो और लक्ष्यो की प्राप्ति मे सक्षम हो सकेगा। नब्बे के दशक की शुरुआत से ही इसके इस दिशा के प्रस्थान बिन्दु बने हैं परन्तु अभी बहुत कुछ करना शेष है।

नए अभिमुखीकरण

बदलते परिपेक्ष्य मे, जिसमे दुनिया इलेक्ट्रॉनिक माध्यमो और सूचना-क्रान्ति के जरिए परस्पर गुँथ गई है, पश्च-पूँजीवाद ने आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को बाधित कर दिया है तथा साथ ही जब पश्चिम मे महा-सिद्धान्तो के बदले "घटना विज्ञान" के माध्यम से एक "उत्तर-आधुनिक" परिप्रेक्ष्य उभर कर आया है, का प्रभाव भारतीय समाजशास्त्र पर भी पड़ा है। यह हमे नब्बे के दशक के बाद की अखिल भारतीय समाजशास्त्रीय गोष्ठियो और बहसो मे दृष्टिगोचर होता है। इनमे "घटना-विज्ञान" के माध्यम से भारतीय यथार्थ को इसके इतिहास और सस्कृति के तत्वो और इसके पारम्परिक स्वरूप के सहारे नए सिरे से जानने-समझने की कोशिशे की जा रही है। इसलिए फिर से दलित, लिग, राष्ट्रवाद, सम्प्रदायवाद, धर्मनिरपेक्षवाद, पूँजीवाद, बाजारवाद, सजातीयता, बहुलतावाद आदि जैसे सामाजिक-सास्कृतिक-राजनीति-आर्थिक मुद्दे नए रूप मे उभर कर सामने आ रहे है। इन बहसो और गोष्ठियो के द्वारा, जो कि भारतीय साहित्य, मानव-विज्ञान तथा दर्शन आदि अनुशासनो के सयुक्त प्रभाव और तत्वाधान से उभर रहे है वो अब पूर्व की पश्चिमी मान्यताओ पर प्रश्न-चिन्ह भी लगा रहे है। भारतीय समाजशास्त्रीय सदर्भ मे जो बहस बेली, पोकाक आदि के साथ ए के सरन ने चलाई थी उसकी आवश्यकता एक बार पुन इक्कीसवी शताब्दी मे एक

नए यथार्थ के रूप मे उभर कर आ रही है क्योकि भारतीय परम्पराओ को संहिताबद्ध (Codified) करना इतना सरल एव सहज नही है। इसकी परस्पर सहयोगी और पूरक भिन्नताएँ इतनी जटिल है कि किसी एक अनुमानित, परिकल्पित और आयातित दृष्टि-प्रारूप से भारतीय समाज को समझना और इसकी परम्पराओ को विश्लेषित करना इतना सरल एव सहज नही है। भारतीय समाज की सस्कृति कई परम्पराओ और जीवन-विधियो का एक अद्भुत सम्मिश्रित सकुल है जिसमे नई सोच मे यहाँ की भाषाओ, ग्रामीण-कृषक वातावरण, मिथको की शृखलाएँ और अर्वाचीन परम्पराओ तथा मौखिक वृत्तान्तो को आनुभविक पद्धतिशास्त्र के स्थान पर अब लघु वृत्तान्तो और "बिबिलियोग्राफी" के माध्यम से व्याख्यात्मक समाजशास्त्र के द्वारा समझना ही ज्याद उपयोगी और प्रासगिक प्रतीत हो रहा है।

इस नए परिप्रेक्ष्य मे भारतीय समाजशास्त्री भारतीय सभ्यता और सस्कृति की सततता और सुदृढता के तत्वो को उभारने के प्रयास कर रहे है। ये तत्व आधुनिकता की प्रक्रिया के अन्तर्गत पश्चिम की सदर्भ संस्कृति मे प्राय घुल-मिल गए थे। हालाँकि आधुनिकता की प्रक्रिया खण्डित हो गई है, वही समेकित रूप से भारतीय व्यवस्था जो उत्पादन की विभिन्न पद्धतियो के साथ हजारो वर्षो से चली आई है अब भी अपनी प्रासंगकिता को बनाए हुए है। टी के ओमन, दीपाकर गुप्ता, योगेन्द्र सिंह, श्यामाचरण दूबे, आन्द्रे बेतेइ आदि के समाजशास्त्रीय चिंतन तथा ए.के. सरन आदि के निरन्तर प्रयासो के द्वारा इक्कीसवी शताब्दी मे भारतीय समाजशास्त्र की भारतीय रूपरेखा बनाने के सार्थक प्रयास किए गए हैं और किए जा रहे है। इस तरह से भारतीय समाजशास्त्र अपनी आयातित विषय-वस्तु को न सिर्फ त्याग रहा है बल्कि नई पद्धतियो के प्रयोग पर भी बल दे रहा है जिसकी जड़े दर्शन और साहित्य आदि मे भी है और जिसकी उद्घोषणाएँ आख्यानो और मौखिक वृत्तान्तो से भी जुड़ी हैं।

REFERENCES

Bailey, F G (1959), 'For a Sociology of India', *Contributions to Indian Sociology*, No 111, pp 88-101

Beteille, A (1975), *Inequality and Social Change*, Delhi.

Beteille, A (ed) (1969), *Social Inequality*, Harmondsworth

Beteille, A , (1965), *Caste, Class and Power*, Berkeley.

Bottomore, T B (1962), 'Sociology in India', *The British Journal of Sociology*, Vol 13, No 2, p 98-109.

Chauhan, B R (1967), *A Rajasthan Village*, Delhi

Cohen, B S (1955), 'The Changing Status of Depressed Castes' in M Marriot (ed), *Village India*, Chicago, pp 53-77

Desai, A R (1966), *Social Background of Indian Nationalism*, Bombay

Desai, A R (1975), *State and Society in India*, Bombay

Dube, S C (1966), *Indian Village*, London

Dube, S C (1982), 'Social Sciences for the 1980s', *International Social Sciences Journal*, Vol 34, No 3, pp 495-502

Halsey, A H (1989), 'A Turning of the Tide? The Prospects of Sociology in Britain', *The British Journal of Sociology*, Vol 40, No 3, pp 353-71

Joshi, P C (1971), *Land Reform and Agrarian Change in India and Pakistan* (A report)

Madan, T N (1965), *Family and Kinship*, New York.

Majumdar, D N (1958), *Caste and Communication in Indian Village*, Bombay

Mattoo, A (1991), *Reform Movements and Social Transformation of India*, Delhi

Mukherji, R K (1958), *The Rise and Fall of East India Company* New Delhi

Oommen, T.K (1972), *Charisma, Stability and Change*, New Delhi.

Oommen, T K (1990)(a), *State and Society in India Studies in Nation-Building*, New Delhi, Sage Publications

Oommen, T.K (1990)(b), *Protest and Change Studies in Social Movements* New Delhi: Sage Publications

Oommen, T.K (1997), *Citizenship, Nationality and Ethnicity Reconciling Competing Identities*, Cambridge· Polity Press.

Rosenthal, D.B. (1970), *The United Elites*, Chicago

Saksena, R.N. (ed) (1961), *Sociology Social Research and Social Problems in India*, New York.

Saran, A K. (1961), 'The Natural Sciences and the Study of Man', *Eastern Anthropologists*, Vol 14, No 2, pp 122-35

Saran, A.K (1962), 'For a Sociology in India', *Eastern Anthropologist*, Vol 15, No 1, pp 53-60

Saran, A.K. (1965), 'Sociology of Knowledge and Traditional Thought', *Sociological Bulletin*, Vol 14, No 1, pp 41 58

Shah, A M. (1973), *The Household Dimensions of the Family in India*, Delhi

Singh, Y (1973), *Modernization of Indian Traditions*, Delhi

Singh, Y. (1977), *Social Stratification and Change in India*, Delhi

Singh, Y (1984), *Image of Man*, Delhi

Srinivas, M.N. (1966), *Social Change in Modern India*, Berkeley.

2

यह समाजशास्त्र नहीं है

हमारे पास इतिहास के इतने 'ओवरआर्चिंग' हैं जिनमे समाजशास्त्र को एक नई गुरुता प्राप्त हो जाएगी। समाजशास्त्र की परम्पराओ के महासूत्रो के फिर से अवलोकन और उनसे बौद्धिक और तार्किक अनुकूलन एव सामन्जस्य स्थापित करने की आवश्यकता है।

समाजशास्त्र के बारे मे एक प्रचिलत धारणा है कि यह एक सर्वाधिक लोकप्रिय परन्तु साथ ही सर्वाधिक सरल विषय है। इसीलिए महाविद्यालयो और विश्वविद्यालयो मे हम विद्यार्थियो की भीड़ तो देख पाते है लेकिन उनमे इसके वैज्ञानिक और सार्थक अध्ययन के प्रति रुचि का अपेक्षाकृत अभाव पाते है। इसकी भ्रान्त सरलता ने गुणवत्ता और मौलिकता के धरातल पर इसको कमजोर बना दिया है और स्थिति इस स्तर तक पहुँच गई है कि अन्य विषयो और अनुशासनो की भाँति इसकी पुस्तके और शोध-पत्र सहजता से सन्दर्भित नही हो पाते है।

आखिर क्या कारण है इसके पीछे कि एक ज्ञानोपयोगी, वैज्ञानिक अन्तर्वैषियक और प्रासगिक विषय होने के बाद भी भारतीय बौद्धिक परिवेश मे

समाजशास्त्र अभी तक मात्र उपाधियाँ प्रदान करने वाले विषय के रूप मे ही जाना जाता रहा है क्योकि मार्क्स, वेबर, पार्सन्स, मर्टन का व्यावहारिक अनुकरण नही हुआ। भारत मे यदि हम समाजशास्त्र की चर्चा करते हैं तो मुख्यत या तो ए आर देसाई की 'भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि' या प्रो योगेन्द्र सिह की 'भारतीय परम्पराओ का आधुनिकीकरण' के सन्दर्भ ही उभरकर आ पाते हैं लेकिन ये दोनो ही अवधारणात्मक और विश्लेषणात्मक पुस्तके उस समाजशास्त्रीय लेखन या विश्लेषण या अध्ययन के प्रारूपो से सर्वथा भिन्न और उच्चस्तरीय है जिसे हम लोगो ने स्वार्थवश अपना रखा है। आधुनिक युग मे समाजशास्त्र यूरोपीय भाषाओ, परिस्थितियो और विचारो के कलेवर लिए जन्मा एक विषय है। समय के साथ-साथ इसने अपने आप को विज्ञानवाद के प्रभाव मे प्रत्यक्षवाद से सँवारा और फिर कालान्तर मे अपने आप को परिमार्जित करने के लिए घटनाविज्ञान को भी अपनाया। इस प्रक्रिया ने जहाँ यूरोप मे जड़े जमाई, वही अमेरिका आदि भागो मे इसके नए वैश्विक और स्थानीय आयाम भी विकसित किए। समय-समय पर निर्मित और स्थापित होते रहे समाजशास्त्रीय सम्प्रदाय इसे इगित करते हैं लेकिन भारत मे इसके धमाकेदार आगमन के बावजूद बाद मे जिस प्रकार यह प्रत्यक्षवाद की गुणात्मकता के स्थान पर मात्र साख्यिकी गणनाओ, प्रश्नावली, अनुसूची तक ही सिमट कर रह गया, उससे समाजशास्त्र की साख पर प्रश्नचिन्ह लगने शुरू हो गए। परिणाम यह हुआ कि भारतीय समाजशास्त्र की पहचान और उपादेयता मात्र शैक्षणिक उपाधियो को प्राप्त करने मे सहायक के रूप मे बनने लगी। वैश्विक स्तर पर समाजशास्त्र के स्थानीय विद्यार्थियो ने समाजशास्त्रीय निरक्षरता का एक वातावरण निर्मित कर दिया जिससे भारत मे समाजशास्त्र के प्रासगिक और सार्थक विकास की मौलिक सोच कलुसित हुई है। यही कारण है कि भारत मे 1971 मे समाजशास्त्र के आगमन और स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् निर्मित रूपरेखा के बाद इसने एक व्यापक बहस को जन्म दिया था कि भारतीय समाजशास्त्र कैसा होना चाहिए। इस बहस के उपरान्त उबर कर आए बिन्दुओ मे भारतीय इतिहास, सस्कृति, परम्परा, सामाजिक सास्कृतिक उद्विकास की प्रक्रिया आदि के महत्वपूर्ण तत्व थे जिनके सम्मिलन से एक स्वदेशी पृष्ठभूमि वाले

समाजशास्त्र के निर्माण की कल्पना की गई। यहाँ तक कि 1950 मे एक प्रमुख समाजशास्त्री और अध्येता प्रो ए के शरण ने टाइम्स ऑफ इण्डिया मे तत्कालीन प्रधानमन्त्री पण्डित जवाहर लाल नेहरू के नाम एक खुला पत्र लिखा और इसके माध्यम से उन्होने प्रधानमन्त्री से ये आग्रह किया कि भारत मे समाजशास्त्रीय अध्ययन और अनुसन्धान के क्षेत्र मे विदेशी शोध कृतियो को बन्द किया जाए ताकि भारत के मेधावी विद्यार्थी विदेशी शोध सस्थानो के विशिष्ट उद्देश्याधारित वैसे शोधकार्यो के दुष्प्रभावो से बच सके जो मात्र आँकडा सकलन और उनके सीमित विश्लेषण कर पाते है और न ही भविष्य को चिन्हित कर पाते हैं। इस बहस को प्रो शरण ने आगे भी 'कन्ट्रीब्यूशन टू इण्डियन सोशियोलाजी' नामक पत्रिका मे व्यापक स्तर पर निरन्तर जारी रखा और इसके एक सीमा तक स्वदेशी समाजशास्त्र के निर्माण की पुख्ता नीव भी तैयार की लेकिन निर्णायक रूप मे समाजशास्त्र की भारतीय दिशा को परिवर्तित नही किया जा सका और यूरोपीय समाजशास्त्र के प्रत्यक्षवाद की अनुपयोगी भ्रान्तिपूर्ण और खराब प्रवृत्तियो को ही समाजशास्त्र की मुख्यधारा बना दिया गया।

विशेष तौर पर कथित बीमार राज्यो के शैक्षणिक समाजशास्त्रीय परिदृश्य मे यह स्पष्ट दिखता है जहाँ हिन्दी के आतिरिक्त किसी अन्य भाषा का लोकप्रिय प्रचलन नही है। परिणामत समाजशास्त्र का वह गुणात्मक और बौद्धिक आभामण्डल निर्मित नही हो सका जिसके हेतु भारतीय समाजशास्त्र के पूर्ववर्तियों ने अथक प्रयास किए थे। इसके विपरीत सख्या मे आवश्यकता और अपेक्षा से अधिक सम्पन्न किए जा रहे सकारात्मक शोधो के अव्यावहारिक, अतार्किक, अवैज्ञानिक निष्कर्षो का कोई ओर-छोर नही दिखता। ऐसी दशा मे हम ज्ञान और प्रमाण के प्रतिनिधि के रूप मे न तो किसी पुस्तक, शोध या शोध पत्र को सदर्भित कर पाते हैं और न ही इस सन्दर्भ मे कोई राय दे पाते है। यह एक निराशाजनक और दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है भारत में समाजशास्त्र के सम्बन्ध मे।

यूरोप मे ऐसा नही है। वहाँ समाजशास्त्रीय सिद्धान्त और सिद्धान्तो के आधार पर प्रत्यक्षवाद की मौलिकताओ के सहारे निरन्तर नई दिशाओ की खोज हेतु

साहित्यिक समीक्षाएँ प्रयुक्त होती रहती हैं लेकिन भारत मे भाषाई अक्षमताओ और दुरुहताओ से बचने और आलसी-उपाधियाँ प्राप्त करने के क्रम मे 'काटो और चिपकाओ' विधि के माध्यम से शोधकार्य की विश्वसनीयता और उपादेयता एक तमाशा बन कर रह गई है। इसीलिए भारत के अधिकाश स्वघोषित समाजशास्त्री और अध्येता अपने लेखो को अपने लिए नियुक्त चयन समिति के बाहर दिखा तक नही सकते और अन्तत उनकी सामग्रियाँ रिकार्ड के रूप मे बोरियो तक ही सीमित रह जाती हैं। यह कोई आरोप नही वरन् आत्मावलोकन का एक कष्टकारी प्रयास है परन्तु एक लम्बी अवधि के पश्चात् अब इस बात की भी चिन्ता उभर कर सामने आ रही है कि एक बार फिर से भारतीय समाजशास्त्र को नए सिरे से सरक्षित, स्थापित और व्याख्यायित किया जाए। इस परिप्रेक्ष्य मे नई पीढी के पास सन्दर्भित भाषा, अभिव्यक्ति, भावना सम्वेदना तथा निष्ठा का अभाव दिखता है। वीना दास, योगेन्द्र सिह आदि ने फिर से यह बहस भारतीय समाजशास्त्र के क्षेत्र मे छेडी है, लेकिन कम से कम बीमार राज्यो मे समाजशास्त्र उपरोक्त वर्णित स्थिति मे ही प्रतीत होता है। सम्मेलन चाहे वो क्षेत्रीय स्तर पर हो या अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर, एक समुद्र की तरह होता है जहाँ कुछ भी पढ़ना-लिखना बहुत अधिक महत्व प्राप्त नही कर पाता। कम से कम तब तक तो बिल्कुल नही जब तक कि किसी उचित स्थान पर उसे प्रकाशन का अवसर प्राप्त नही हो जाता। इसीलिए सम्मेलनो मे सहभागिता और प्रस्तुति की एक लम्बी सूची के बावजूद उपादेयता के स्तर की जानकारी या तो उनको खुद को होती है या खुदा को होती है। इसलिए भारतीय समाजशास्त्र की आम स्थिति के बारे मे आलोचको का यह कथन अक्सर सत्य के निकट प्रतीत होता है कि भारतीय समाजशास्त्र तथ्यो (आकड़ो) और परिस्थितियाँ का दु खद दोहराव है।

वस्तुत न तो यह समाजशास्त्र है और न ही भारतीय समाजशास्त्र। प्रथमत समाजशास्त्र यूरोप के सास्कृतिक चरम को जानने समझने और विश्लेषित करने तथा द्वितीयत सम्पूर्ण विश्व को जानने समझने और विश्लेषण, निर्देशन की एक कुजी था। 18वी शताब्दी मे इसमे ब्रिटेन की आर्थिक प्रगति और सामाजिक वर्चस्व, फ्रान्स के उदारवाद तथा दर्शन, जर्मनी की आलोचनाओ को ग्रहण कर अपना

एक समन्वित स्वरूप निर्मित एव प्रस्तुत किया गया है। अब तो इसने अपना सम्पर्क 'घटनाविज्ञानवादी ज्ञान' से भी साध लिया है और इसकी परछाइयाँ भारत के समकालीन समाजशास्त्र पर भी पडने लगी है। इस 'घटनाविज्ञानवादी ज्ञान' मे ज्ञान-विज्ञान, साहित्य, दर्शन और यहाँ तक कि वास्तुशास्त्र के भी अश शामिल है। अपने मौलिक स्वरूप मे भारतीय समाजशास्त्र व्यापक स्तर पर इन्ही अशो का समग्रतावादी सकुल है जो एक सक्रमणकालीन कालावधि मे पथ से परे चला गया था। इसलिए आधुनिक और भविष्यगत समाजशास्त्र का भारतीय सस्करण न तो हल्का है और न ही इसके शोध विषय इतने सरल है कि उन्हे 'काटो और चिपकाओ' की कुविधि अपना कर सम्पादित किया जा सके। समय आ गया है कि समाजशास्त्र के परम्परागत स्वरूप को विदा कर उसे उसका वास्तविक आवरण प्रदान किया जाए। इसके तत्व प्रचुर मात्रा मे भारत के पारम्परिक मौखिक आख्यानो और परम्पराओ की सम्मिश्र सस्कृति और समन्वित ज्ञान की शाखाओ मे पहले से ही विद्यमान है। हमारे पास इतिहास के इतने ओवरआर्चिंग है जिनसे समाजशास्त्र को एक नई गुरुता प्राप्त हो जाएगी। समाजशास्त्र की परम्पराओ के महासूत्रो के फिर से अवलोकन और उनसे बौद्धिक और तार्किक अनुकूलन एव सामन्जस्य स्थापित करने की आवश्यकता है अन्यथा अब तक इसका जो स्वरूप प्रस्तुत किया जाता रहा है, उससे कही बेहतर मीडिया और पत्रकारिता के क्षेत्र मे किया जाता रहा है। वृद्धो की दशा, नगरो की निर्धनता और जटिलता, ग्रामीण समस्याएँ आदि के सन्दर्भ मे आज की पत्रकारिता भी इससे काफी आगे निकल चुकी है। ऐसी स्थिति मे अन्तर्राष्ट्रीय समाजशास्त्रीय सम्मेलनो मे प्रतिष्ठापूर्ण प्रतिनिधित्व की बाते ही बेमानी है, अत अब यह एक अनिवार्य आवश्यकता हो गई है कि भारतीय समाजशास्त्र पाश्चात्य समाजशास्त्र की ईमानदारी और वास्तविकताओ से सीख लेकर (नकल करके नही) दु खद दोहरावो से बचे और ज्ञान को सहिताबद्ध करे। इस ज्ञान के सकेत धरातलीय वास्तविकताओ से लेकर अलौकिकता और आध्यात्मिकता सभी मे विद्यमान है हालाँकि इनकी साकेतिक पहचान को भारतीय परम्पराओ के आधुनिकीकरण के अपने विश्लेषण मे प्रो योगेन्द्र सिह ने प्रस्तुत किया भी है जिसके तत्व समग्रतावाद, सस्तरण, अलौकिकता और

सातत्य है। इसीलिए अब तक इस पुस्तक के अतिरिक्त अन्य कोई और पुस्तक अन्य अनुशासनो द्वारा मान्य नही हो पाई है। (न्यूनाधिक रूप से) ऐसी स्थिति मे मौलिक समाजशास्त्रीय ज्ञान की परम्परा को आगे ले जाना सहज कार्य तो नही है जैसा कि अब तक माना (और किया) जाता रहा था क्योकि समाजशास्त्रियो की सोच यह है कि न सिर्फ समाज की जानकारी, उसका विश्लेषण अतीत के ज्ञानकोश की सहायता से अधिक उपयोगी हो सकता है और एक उत्तम भविष्य-दृष्टि इस क्रम मे विकसित की जा सकती है, स्वय के सन्दर्भ मे ढूँढ़े और पाए जा सकते है। इस प्रकार समाजशास्त्र न सिर्फ दैनिक और आम जीवन की समस्याओ को सही पैमाने पर विश्लेषित कर पाएगा बल्कि एक आदर्श नागरिक समाज का सशक्त ताना-बाना भी बुन सकता है। आतकवाद, सम्प्रदायवाद, नगरीय ग्रामीण प्रक्रियाएँ और समस्याएँ, युवा विचलन, सक्रमणात्मक परिस्थितियो के दुष्प्रभाव भी प्रस्तुत करेगा बनिस्बत इसके कि इनका सिर्फ साख्यिकीय प्रस्तुतीकरण और यान्त्रिक विश्लेषण करेगा जिससे ये और भी जटिल हो जाए। भारत की सास्कृतिक सजीवनी को जहाँ जो जैसा है या अनुमानित रूप मे नही लिया जा सकता बल्कि इनको एक सार्थक समाज, और राष्ट्र-राज्य बनाया जाएगा।

3

ज्ञान का परिदृश्य

ससार मे जो कुछ भी मौलिक पर्यावरणीय रूप मे विद्यमान है, जैसे—नीला आकाश, हरी-भरी घाटियाँ, रेगिस्तान, झरने, झील, पर्वत, पठार, नदियाँ, समुद्र आदि, वह प्रकृति है। इसी प्रकृति से व्यक्ति जो कुछ भी निर्मित करता है, उसे हम सस्कृति की सज्ञा देते है। सस्कृति चाहे भौतिक हो विज्ञान और पदार्थो पर आधारित हो अथवा अभौतिक हो, जो अमूर्त परम्पराओ, मूल्यो, भाषा आदि मे प्रतिरूपित हो, दोनो के समावेश की प्रस्तुति ज्ञान है वास्तव मे ये सभी प्रकृति से ही उभरी परिघटनाएँ हैं। परम्परागत भारतीय समाज मे ज्ञान की समझदारी न सिर्फ विस्तृत थी बल्कि इसमे सत्यान्वेषण की प्रकृति भी थी जिसके सतत् प्रवाह के क्रम मे देश-काल द्वारा कोई बाधा प्रस्तुत नही की जाती थी क्योकि यह उपनिषद्, वेद-वेदान्त, गीता, षड्दर्शन आदि तक इस भाँति व्यापक रूप से विस्तृत और सगठित था कि इसमे समेकित जीवन शैलियो के विकसित होने और पनपने के लिए पर्याप्त स्थान उपलब्ध था। यह इहलोक के पश्चात् परलोक से सम्बन्धित प्रश्नो के उत्तर भी प्रस्तुत करता था। यह एक प्राचीन और नैरन्तर्य से परिपूर्ण समाज की समृद्ध विरासत थी जो विभिन्न सस्कृतियो की टकराहट के बाद भी अक्षुण्ण परन्तु अपेक्षाकृत सीमित रूप मे रही क्योकि अग्रेजी उपनिवेश काल मे इसे पौर्वात्य (प्राच्य) मानकर नकार सा दिया था। इसके बावजूद प्राचीन और समृद्ध भारतीय ज्ञान-भण्डार गगा की भाँति प्रारम्भ से अब तक निरन्तर प्रवाहमान रहा है जो वेगवती धाराओ का अनुसरण करता है न कि गाहे-

बगाहे उभरने वाली कुछेक क्षीण लहरो की तरह है जिनका अस्तित्व क्षणिक होता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के 50-52 वर्षों पश्चात् भी यह एक क्षोभकारी विडम्बना है कि इस ज्ञान की सम्पूर्ण खोज और जानकारी के लिए हमारे पास न तो सबद्ध भाषाओ की कोई उपयोगी जानकारी है जिसके माध्यम से हम इसका अवलोकन-परीक्षण कर सके और न ही पाली, सस्कृत, शारदा, उर्दू आदि के माध्यम से जो कुछ भी उपलब्ध है उसका सम्पूर्ण सचार कर पाने का कोई सशक्त और सक्षम श्रोत जैसे लैटिन। इसे एक सीमा तक समाज-सुधार आदोलनो के द्वारा बगाल, महाराष्ट्र, पजाब आदि मे ब्रह्मसमाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज आदि द्वारा निखारने के प्रयास किए गए लेकिन चूँकि ये औपनिवेशिक शासन के अतर्गत थे, इसलिए इनका उतना दीर्घकालिक और विस्तृत प्रभाव नही बन सका। इसलिए इस ज्ञान से, जो भारत की दार्शनिक परम्परा से उभरा हुआ है, दुनिया मौलिक रूप से परिचित नही है।

अब हम जिस ज्ञान की बाते करेगे वो रग बदलता ज्ञान है जिसमे दुनिया भी रग बदलती रहती है और जिसके मापदण्ड भी समय के साथ-साथ बदलते रहते है। न्यूनाधिक रूप से यह पश्चिमी ज्ञान का परिचायक ज्ञान है जो आधुनिक ज्ञान के रूप मे उभरकर 17वी शताब्दी मे दुनिया पर छा गया क्योकि उस समय यूरोप शक्तिशाली और वर्चस्वशाली था। इस ज्ञान को ही असली, सच्चा ज्ञान मानकर अन्य ज्ञान को, विशेषकर पौर्वात्य ज्ञान को या तो नकारा गया या अतार्किक मानकर उसकी अवहेलना की गई थी। आइए इस ज्ञान पर, इसकी रग बदलती प्रकृति पर एक समाजशास्त्रीय दृष्टिपात करते है। पाश्चात्य ज्ञान प्रारम्भ से ही एक द्वंद्व का शिकार रहा है। यह द्वद्व इसके भ्रूण मे ही सन्निहित था। देकार्त ने, जो आधुनिक दर्शन के पिता माने जाते हैं, "शक"/सदेह की अवधारणा के माध्यम से दुनिया और ईश्वर की वास्तविकता को जानने के प्रयास किया। जो चीज "शक"/सदेह पर आधारित है उसका अस्तित्व और प्रासगिकता भी "शक"/सदेह के परे नही हो सकती। यही कारण था कि "शक" के बिन्दु से ही 17-18वी शताब्दी मे यूरोप की प्रसिद्ध बहस प्रारम्भ हुई जिसे हम "असहमति का विवाद" कहते हैं। यह विवाद तार्किकतावाद बनाम अनुभववाद के रूप मे जाना जाता है। इसका दूसरा पहलू था कि ज्ञान "अन्तर्भूत" है

जिसकी शुरुआत देकार्त, स्पिनोजा और लायबिनिट्ज ने की थी। इनके विपरीत लॉक, ह्यूम, डेविड आदि की मान्यता थी कि मानव मस्तिष्क एक कोरे पन्ने की भाँति है, इसलिए ज्ञान सिर्फ अनुभव से ही प्राप्त होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि "अन्तर्भूत" बनाम "अनुभव" का विवाद प्रारम्भ से ही इस द्वद्व के केन्द्र मे रहा है। 18 19वी शताब्दी मे समाजविज्ञान मे "अन्तर्भूत" को नकार कर अनुभववाद को अपनाने का प्रयास किया गया। इसके पीछे वैज्ञानिक सोच और वैज्ञानिक उपलब्धियो से निर्मित तार्किक मानस का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यही कारण है कि 19वी शताब्दी के आते-आते ज्ञान का स्वरूप "प्रत्यक्षवाद" पर आधारित हो गया जिसमे "तथ्य" की अवधारणा "सत्य" से अलग कर दी गई। "तथ्य" वैज्ञानिक पद्धति द्वारा चिन्हित, प्रमाणित, स्थापित घटनाएँ है। इस "तथ्य" को विकसित करने के क्रम मे इसकी दो शाखाएँ निर्मित हुई। एक वह जो इतिहास की गति तो द्वद्व की दृष्टि से देखती है और मानती है कि तथ्य द्वद्वो के टकराहट के परिणाम है। यह समाज को वादो-विवादो के प्रतिवाद के रूप मे जानने के प्रयासो मे व्यस्त थी। दूसरी शाखा प्रकार्यवाद के रूप मे उभरी जिसने विभिन्न तत्वो-तथ्यो मे परस्पर सहयोगी और निर्भरता के सम्बन्धो को विश्लेषित करने को ही ज्ञान समझा। ज्ञान की ये दोनो शाखाएँ 20वी शताब्दी मे इतनी सशक्त और प्रभावी रही कि इन्होने प्राय सम्पूर्ण विश्व को (ज्ञान से सम्बद्ध) दो वैचारिक फलको मे विभाजित कर दिया था। कालातर मे ये दोनो शाखाएँ कई नवीन विचारणाओं के उद्गम का श्रोत बनी। इसी प्रकार से साहित्य की भी दो शाखाएँ निर्मित-विकसित हुई जो क्रमश "साहित्य, साहित्य के लिए" और "साहित्य जीवन के लिए" जैसी विशेषताओ से सज्जित थी। इस प्रक्रिया से गीत, कविता, शायरी, नज्म, दोहे, नाटक, कहानी, उपन्यास, लेखक, कवि, आलोचक आदि को परस्पर अलग कर प्रत्येक के लिए एक अलग और स्वतन्त्र स्थान निर्मित कर दिया। इसके अन्तर्गत आम आदमी के जीवन, उसके स्वजनो, उसके दु ख-दर्द और दैनिक जीवन को भी एक साहित्यिक रग मिलना सम्भव हो सका वही दूसरी ओर व्यक्ति की अच्छाइयो, बुराइयो, शक्ति, निर्बलता, उसमे हो रहे या हुए परिवर्तन आदि को विश्लेषित करने वाला साहित्य भी उभरकर सामने आया। तात्पर्य

यह कि ज्ञान की पश्चिमी पद्धतियाँ आधुनिक काल मे जीवन के प्राय. प्रत्येक पक्ष मे प्रभावी रही है। परन्तु इन पद्धतियो का पारलौकिक दुनिया से कोई विशेष सरोकार नही था और इन्होने सम्पन्न और समृद्ध ग्रीक ज्ञान-सम्पदा को भी नकार दिया था। इसके मिथको का वर्णन अग्रेजी साहित्य की कविताओ और उपन्यासो तक ही सीमित रहा। लेकिन ज्ञान की इन पद्धतियो मे 20वी शताब्दी के मध्य से बिखराव प्रारम्भ हो गया। घटनाओ की निरन्तर अनिश्चित होती जा रही प्रकृति, पूँजीवाद के प्रकोप तथा बढ़ती हुई मानवीय विवशताएँ भी इस ज्ञान को कोई सम्बल प्रदान नही कर सकी। पश्चिमी समाज साठ के दशक से इसी रास्ते, जो बिखराव का रास्ता था, पर चलने लगा। इसमे "हिप्पी" और "वापस गॉव की ओर" जैसे आदोलन उभरे, जिनके माध्यम से एक स्थिरता भरे जीवन के लिए उपयुक्त ठिकाना ढूँढने के यथार्थवादी प्रयास किए गए। लेकिन वैचारिकी (विचारणा) की लड़ाई ने ज्ञान का पेटेट पर वर्चस्व बनाए रखा। बीसवी शताब्दी के अत के आते-आते शीत-युद्ध की समाप्ति के साथ ही ज्ञान की ये परिभाषाएँ भी बदल गई और "प्रत्यक्षवाद" और उसके तत्वो को न सिर्फ नकारा जाने लगा बल्कि "वैज्ञानिकतावाद" पर भी प्रश्न चिह्न लगाए गए। फिर से उस विवाद के पहले सूत्र को परखने के प्रयास किए जा रहे हैं कि क्या ज्ञान वास्तव मे अन्तर्भूत है? इस क्रम मे यूरोप मे कई ऐसे सम्प्रदायो का जन्म हुआ जो शून्यवाद से अस्तित्ववाद की परिभाषाओ के सत्यापन-परीक्षण और विश्लेषण मे लगे हुए हैं। इन सम्प्रदायो की मान्यता है कि ज्ञान अनुभव से नही बल्कि चेतना से प्राप्त होता है। इसे शूज़ के घटनाविज्ञान के रूप मे जाना जाता है तथा इसकी शाखाएँ प्रकार्यवाद से सर्वथा भिन्न है। इसमे ज्ञान को आम व्यक्ति से सबद्ध माना जाता है तथा दैनिक जीवन की सामान्य से सामान्य घटना या बात को भी ज्ञान प्राप्ति के साधन और स्त्रोत के रूप मे देखा जाता है। जबकि फ्रासीसी सम्प्रदाय, जिसमे दरिदा, लाका (लेकन) और गॉफमैन आदि ने ज्ञान को भाषा, अत क्रिया, शारीरिक हाव-भाव या सकेतो और चिन्हो के माध्यम से अर्जित माना है। इस सम्प्रदाय की मान्यता है कि लेखन की विद्या वाचिक विद्या से पहले आयी। चाहे जानवरो, पेड़-पौधो की आकृति-अनुकृति का निर्माण हो या बादलो के रैखिक और साकेतिक प्रतिरूपण की विभिन्न शैलियाँ,

वास्तव मे ये सब के सब ही प्रकृति को प्रस्तुत करने वाले ज्ञान के वास्तविक माध्यम हैं। इस सम्प्रदाय से सबद्ध विद्वान ये मानते हैं कि कोई भी सत्य अतिम नही है बल्कि वह सापेक्ष है क्योकि यह मायावी दुनिया प्रतिपल नए-नए रूप धारण करती रहती है। ज्ञान की इस नयी पद्धति ने न सिर्फ साहित्य पर गहरा प्रभाव डाला बल्कि "साँप और रस्सी" जैसे बिन्दुओ के परिस्थितिजन्य विश्लेषण की प्रवृत्ति को भी जन्म दिया। यह पाश्चात्य बौद्धिक समाज मे उभरी एक नवीन वैचारिक प्रक्रिया है जबकि प्राय 2500 वर्ष पूर्व ही भारत मे इस प्रकार की गुत्थियो को वैचारिक और व्यावहारिक दोनो आधारो पर सुलझाने के अपेक्षाकृत सार्थक और सफल प्रयास किए जा चुके हैं। पश्चिम मे अब इसकी परछाइयाँ उभरकर नए वैचारिक रूप ले रही हैं और इसने अब तकनीकी और सूचना-क्रान्ति मे नए मोड़ और आयाम, दोनो को प्रारम्भ किया है। अब ज्ञान क्रमश न सिर्फ सचारशीलता पर आधारित होता जा रहा है बल्कि ज्ञान और ज्ञानी-विशेष की गम्भीरता और सार्थकता इस आधार पर निर्धारित होने लगी है कि वह सचार-माध्यमो के दायरे मे कितनी देर तक बना रहता है। स्थितियाँ ये बन रही हैं कि ज्ञान क्रमश एक "पण्य" या "कॉमोडिटी" मे परिवर्तित होता जा रहा है जो व्यक्ति के भ्रमजाल, माया आदि के कलेवर मे उसके भौतिक लक्ष्यो-साधनो की पूर्ति मे सहायक हो सकता है। अब ज्ञान सूचना और विश्लेषण के दायरे से बाहर "विक्रय-प्रतिनिधियो" के हाथो मे पहुँच गया है और ज्ञान, जिसे पहले "अन्तर्भूत" और "अनुभवो" पर आधारित माना जाता था, जिसे त्याग, तपस्या और आस्था जैसे उत्तम मानवीय भावो से सबल और गाभीर्य मिलता था, अब भौतिक लक्ष्य की प्राप्ति के क्रम मे अपनी खोखली और महिमामडित प्रस्तुति तक सकुचित हो गया है। यह कोई आरोप नही बल्कि एक वास्तविकता है कि "विक्रय-प्रतिनिधिवाद" एक छद्म और पोपला प्रयास है जो वास्तविकता को ढँक कर भ्रात और मिथ्या परिदृश्य निर्मित करता है जबकि ज्ञान वास्तविकता के विश्लेषण और सत्य के अन्वेषण के क्रम मे उपजता है। यह "वाद" देश-काल के परिप्रेक्ष्यों को मापने मे सर्वथा अक्षम है और इसकी लपेट मे आने वाला व्यक्ति या समाज निरन्तर खोखलेपन की ओर अग्रसर हो रहा है। न तो उसके पास ज्ञान की पद्धतियाँ हैं और न ही कोई वैचारिक प्रतिबद्धता

और स्थिरता जो उसकी भौतिक-सास्कृतिक समस्याओ का विश्लेषण कर उनके निदान हेतु कोई समाधान प्रस्तुत कर सके। आज आम व्यक्ति मात्र रोजमर्रा की समस्याग्रस्त जिन्दगी के मकड़जाल मे उलझकर रह जाने वाला निरीह प्राणी बनकर रह गया है और जिसकी "सभ्यता" के पूर्व "तथाकथित" शब्द जोड़ना अन्यायपूर्ण और अप्रासगिक नही लगेगा। आज चूँकि इसके पास समाज को सुखद बनाने के सपने भी नही बचे हैं इसलिए विभिन्न धर्मो मे उसी धारणा का अनुसरण करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है जो इस धरती पर शक्ति और सम्पन्नता को प्राप्त करने मे सहायक हो सके। इससे आम व्यक्ति को तात्कालिक लाभ का आभास हो तो सकता है परन्तु दीर्घकालिक आधार पर वह अपनी क्षति की कल्पना भी नही कर सकता। इसी परिप्रेक्ष्य मे जब किसी समाजशास्त्री से यह पूछा गया कि "ज्ञान क्या है?" तो उसका दो-टूक उत्तर था कि "ज्ञान वही है जो रसोई घर मे आवश्यक सामानो की पूरी सूची से सम्बन्धित हो।" उसका मानना है कि जीवन को जीवन के रूप मे जीने के लिए जिन आधारभूत आवश्यकताओ की पूर्ति अनिवार्य है, आज का व्यक्ति इससे भी वचित होता जा रहा है। इसलिए ज्ञान की दुनिया का एक सम्प्रदाय विशेष जो "मानवीय पीड़ाओ" से प्रभावित है, जिसमे गिडेन्स, फूको, देरिदा, हैबरमॉ आदि प्रमुख है, अब इस मुद्दे पर केन्द्रित हैं कि "चेतन" और "अचेतन" क्या है? यूरोप मे अब फ्रायड और विडगिस्टाइन के मनोविज्ञान और भाषा-ज्ञान को नए सिरे से जानने-समझने के प्रयास किए जा रहे है और इसमे जो तिकोनी बहस उभरकर सामने आ रही है उसके प्रमुख बिन्दु चेतन-अचेतन, भाषा (लिपिक और मौखिक), विषयनिष्ठिता और वस्तुनिष्ठता हैं जबकि आज से प्राय 2500 वर्ष पूर्व ही प्राच्य ज्ञान परम्परा ने "नाद, शब्द और ब्रह्म" के त्रिस्तरीय विश्लेषण से "ज्ञान" को समझ लिया था। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि इनके प्राचीन बिन्दुओ और परम्पराओ को पुनः खोजा जाए जो न सिर्फ सार्वत्रिक, वैश्विक और सार्वकालिक धरातल की कसौटी पर खरे उतरे, बल्कि एक सामूहिकता के रूप मे दुनिया को उनके माध्यम से जीने के शान्त, सुखद, समन्वयकारी और दीर्घकालिक रास्तो का ज्ञान भी करा सके क्योकि मानव के लिए मानवता प्रथम और अन्तिम आवश्यकता है।

4

विज्ञान का दर्शनः सापेक्षता एवं निरपेक्षता

विज्ञान, विज्ञानवाद वैज्ञानिक क्रान्ति, वैज्ञानिक दर्शन तथा धर्म के बीच एक ऐसा अनिर्वचनीय सम्बन्ध है जिसको नए सिरे से समझने की आवश्यकता है। सोवियत सघ की सघीय अवधारणा के विच्छिन्न होने के बाद इस बात की आशा जगी थी कि देर से ही अन्तत प्रजातन्त्र और स्वतन्त्रता को दीर्घावधि की जीत सम्भव हो सकेगी। परन्तु ऐसा हुआ नही। जहाँ एक ओर एक ध्रुवीय विश्व मे वैज्ञानिक, सैन्य और ससाधन आधारित शक्ति के बल पर अमेरिका का विश्व पर बहुपक्षीय वर्चस्व बढता जा रहा है, वही वैज्ञानिक कट्टरवाद की उभरती प्रवृत्ति धार्मिक कट्टरवाद से भी खतरनाक रूप मे सामने आ रही है। आइये इस परिप्रेक्ष्य मे वैज्ञानिक क्रान्ति और इससे निर्मित हो रही नवीन सरचनाओ को एक सतुलित समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से देखे।

आधुनिक विश्व की अधिकाश सरचनाएँ यूरोप से ही उभरी है। इसलिए यूरोप को ही उस आधुनिक वैज्ञानिकता का स्रोत माना जाता है, जो विज्ञान के इतिहास मे भी स्पष्टतया परिलक्षित होता है। सामान्यतया आधुनिक विज्ञान और विज्ञानवाद को 13वी शताब्दी की प्रोटेस्टैण्ट नीतियो और उसकी व्यावहारिक उपलब्धियो से जोड़ कर देखा जाता है। इससे एक नए दर्शन, विज्ञान के दर्शन का आविर्भाव हुआ है। प्रोटेस्टैण्ट नैतिकता तथा नीतियो का एक आधारवाक्य है—

'मनुष्य विश्व का स्वामी है और अपने लौकिक प्रयासो द्वारा इसे स्वर्ग या स्वर्ग से भी बेहतर बना सकता है।' इस आधार वाक्य ने प्रकृति और मनुष्य के सम्बन्धो-अन्तर्सम्बन्धो का एक नया स्वरूप ही विकसित कर दिया जिसने आगे चलकर आधुनिक विज्ञान की शक्तिशाली नीव स्थापित की। इस आधार पर बहुत से विचारको की मान्यता है कि आधुनिक विज्ञान का प्रारम्भ सन् 1550 के आस-पास हुआ। इनमे ड्यूहिम प्रमुख है जो इस सन्दर्भ मे पेरिस-सम्प्रदाय को विज्ञानवाद तथा विज्ञान का प्रारम्भिक स्रोत मानते है। उनके अनुसार तत्कालीन फ्रास मे वो सारी परिस्थितियाँ विद्यमान थी जिनके सहारे ये समझने के सफल प्रयास किए गए कि दुनिया वस्तुत स्थैतिक रूप से सरचित नही है बल्कि इसमे परिवर्तनमूलक गतिशीलता है। ड्यूहिम एक फ्रासीसी कैथोलिक थे और फ्रास तथा वैज्ञानिकता एव विज्ञान के सन्दर्भ मे उनके विचारो पर उनकी इस पृष्ठभूमि के प्रभाव का आभास किया जा सकता है। यह एक रोचक तथ्य है कि जब राजनीतिक-आर्थिक रूप से विश्व रगमच पर यूरोप की बात उठती है तब यूरोपीय सघ प्रजाति और वर्ग-भेद को भुला कर यूरोपीय सघवाद पर केन्द्रित हो जाता है और फिर वह राष्ट्रीयता के नाम पर शेष विश्व से, यूरोपीय राष्ट्र विभिन्न स्तरो पर प्रतिस्पर्धा करते प्रतीत होने लगते हैं। इसका प्रभाव हमे अब विज्ञान के दर्शन पर भी देखने को मिल रहा है जिसमे शक्ति की राजनीति भी समाहित हो गई है।

16वी शताब्दी मे पहली बार वैज्ञानिक दर्शन और प्रत्यक्षवाद को एक थीसिस के रूप मे यूरोप मे पुनर्जागरण तथा प्रबोधन के दौर मे प्रस्तुत किया गया। इस आधार पर बेकन और देकार्त वैज्ञानिक क्रान्ति के पितामह माने जाते हैं। इन दोनो ने प्रायोगिक उपागम के सहारे यह मान्यता स्थापित की कि जिस प्रकार राजनीतिक विचार क्रान्तियो के आधार पर जन्मते हैं उसी प्रकार वैज्ञानिक क्रान्ति के पहिए से नया विज्ञान निकलता है जो पुरातन विज्ञान से भिन्न, अद्यतन तथा प्रगतिशील होता है। इस प्रकार बेकन और देकार्त ने विज्ञान के दर्शन की पद्धति और प्रायोगिक उपागम का सहारा लेकर समय और विकास की सकल्पनाओ मे उपस्थित अन्तरालो को समझने एव विश्व के समक्ष प्रस्तुत करने के प्रयास किए। आगे चलकर न्यूटन ने इन प्रयासो

को और शक्ति प्रदान की। इन्होने यह बताया कि एक पीढ़ी क्रान्ति उत्पन्न करती है तथा अगली पीढ़ी उस क्रान्ति को पूर्ण करती है। लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर वैज्ञानिक क्रान्ति के आलोक मे किन आधारो पर किस देश का नेतृत्व एव वर्चस्व रहेगा यह रोचक कथानक या गल्प की तरह उभर कर सामने आता है। सन् 1649 तक इंग्लैण्ड यूरोप का एक सामान्य मध्यवर्गीय राष्ट्र था तथा जिसके साथ बाद मे 'साम्राज्य मे सूरज अस्त नही होता' जैसे मिथक जुड़े। इसके लगभग 100 वर्षों बाद सन् 1789 मे फ्रास की महान क्रान्ति तथा इसके प्राय 50 वर्षों पश्चात् जर्मनी मे भी इसी से मिलते-जुलते समाज का निर्माण हो गया। लेकिन इस क्रम मे एक दूसरे के बीच राजनीतिक, आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता के साथ वैज्ञानिक क्रान्ति और विज्ञान के दर्शन के सहारे अपना वर्चस्व स्थापित करने के प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सरचित, लक्षित प्रयास भी प्रारम्भ हुए जो पहले कभी भी देखने मे नही आए थे। जहाँ इग्लैण्ड न्यूटन और बॉयल के विचारो को वैज्ञानिकता के इतिहास के केन्द्र मे रखने की चेष्टाएँ करता रहा है, वही फ्रास ड्यूम और 16वी शताब्दी के पेरिस सम्प्रदाय के वैज्ञानिक योगदानो को आगे रखता रहता है। पेरिस सम्प्रदाय, जिसके प्रवक्ता ड्यूहिम है, का मानना है कि सन् 1277 मे पेरिस के बिशप इटीन टेम्पर ने एक आदेश पत्र के माध्यम से यह बताने का प्रयास किया कि कई और दुनियाएँ हो सकती है और इनमे एक प्रकार का सामन्जस्य भी हो सकता है। इसलिए पुरानी रूढियो एव अन्धविश्वासो को नकार कर नए सिरे से अपनी दुनिया और इसके तत्वो की देखने-समझने की आवश्यकता है। वस्तुत यह अरस्तु का ही पुनर्वालोकन था। ड्यूहिम इस क्रम को जारी रखते हुए कहता है कि यदि विज्ञान के आरम्भ की कोई तिथि निर्धारित करनी है तो वह इसी आदेश पत्र के जारी होने की तिथि होगी क्योकि सन् 1277 के बाद पेरिस विश्वविद्यालय मे इसी दृष्टिकोण के प्रभाव मे शोध के वातावरण मे गुणात्मक परिवर्तन प्रारम्भ हुए।

इससे परे जर्मन विचारक ये मानते है कि वैज्ञानिक सिद्धान्तो का व्यवस्थित प्रस्फुटन 18वी शताब्दी के प्रारम्भ मे हुआ जब काट के शुद्धतावादी विचारो के साथ ही एक नई और बेहतर दुनिया के निर्माण के खाके बनाए गए। खैर! विज्ञान, विज्ञानवाद, वैज्ञानिक क्रान्ति और वैज्ञानिक दर्शन आदि के उद्भव तथा विकास के

बारे मे चाहे जितने भी मत निर्मित और प्रस्तुत किए गए हो, इसकी जड़ो मे प्रत्यक्षवाद, सम्पूर्णतावाद और निर्धारणवाद के तत्व सन्निहित थे। इस सन्दर्भ मे तब तक स्थापित रही मान्यताओ को एक तीव्र झटका वर्तमान शताब्दी के प्रसिद्ध दार्शनिक थॉमस कोहेन और कार्ल पॉपर की दार्शनिक एव वैचारिक उपलब्धियो से लगा। कार्ल पॉपर वियाना के यहूदी थे जो बाद मे लन्दन स्कूल ऑफ इकॉनॉमिक्स मे अध्ययन-अध्यापन से जुड गए। 'ओपेन सोसाइटी एण्ड इट्स इनिमिजि' तथा 'पॉवर्टी ऑफ हिस्टॉरिसिज़्म' जैसी महत्वपूर्ण कृतियो से चर्चा मे आए। पॉपर प्रत्यक्षवाद के आलोचक रहे हैं। इनका मानना है कि विज्ञान सीमाबद्ध है और इन सीमाओ के भीतर ही चीजो का सत्यापन किया जा सकता है। इसलिए विज्ञान का आधार सत्यापन से कही ज्यादा खण्डन पर है। साथ ही इस खण्डन की थीसिस के द्वारा हम सत्य के निकट तो पहुँच सकते हैं लेकिन कभी भी वह सम्पूर्ण सत्य नही हो सकता हैं। इनका ये भी मानना है कि जब तक सम्पूर्ण स्वातत्र्य न हो तब तक विचार उत्पन्न नही होते। फासीवादी या साम्यवादी चूँकि इतिहासवाद पर बल देते है, इसलिए वो नागरिक समाजो के दुश्मन है क्योकि इतिहासवाद व्यक्ति के हृदय-मस्तिष्क को पूर्वनिर्मित वैचारिक रस्सियो से बाँध कर रखता है। इसलिए यदि देखा जाए तो विज्ञान के हस्तक्षेप से खण्डनवाद के सैद्धान्तिक उपागम का उपयोग करके एक सार्थक सामाजिक अभियान्त्रिकी निर्मित कर सामाजिक विसगतियो को क्रमश कम और समाप्त किया जा सकता है। पॉपर ने ये विचार वस्तुत ह्यूम से ही लिये थे जिन्हे अनुभववाद के पुरोधाओ मे गिना जाता है। 180 पृष्ठो वाली अपनी पुस्तक 'स्ट्रक्टर ऑफ साइन्टिफिक रिवॉल्यूशन' मे विचारणाओ पर प्रहार करते हुए उन्होने कहा कि वैज्ञानिक क्रान्ति मात्र सचित ज्ञान से ही सम्भव नही होती हैं, बल्कि ये निरन्तर चिन्तन और मन्थन से उभरती है और इससे निर्मित वैचारिक एव सैद्धान्तिक वातावरण पुराने से सर्वथा भिन्न होता है। इसे 'पैरैडाइम' कहते हैं। इस प्रकार कोहेन का मानना है कि विज्ञान वस्तुत खण्डन की क्षमता का बिम्ब है। उदाहरण के तौर पर न्यूटन के गति-सिद्धान्तो के खण्डन की जमीन पर आइस्टाइन का सापेक्षिकता का सिद्धान्त खड़ा हुआ या अरस्तु का यह सिद्धान्त कि 'विश्व एक डिजाइन है', का

खण्डन कर डार्विन ने अपना विकासवादी सिद्धान्त प्रस्तुत किया। यह एक प्रकार का 'पैरेडाइम शिफ्ट' है जिसका कि प्राय सामाजिक विज्ञानो मे अभाव दिखता है।

विज्ञान और समाज की पारस्परिकता सदैव ही सकारात्मक नही रही है और न ही विज्ञान की उपलब्धियाँ सदैव समाज या व्यक्तियो की आकाक्षाओ पर खरी ही उतरी है। 'विज्ञान विकास के लिए' के स्थान पर कभी-कभी 'विज्ञान विनाश के लिए' के रूप मे भी सामने आता रहा है। ऐसे मे वैज्ञानिको की हताशा, निराशा और पश्चाताप् इसके स्वाभाविक विकास मे बाधा डालता है। वैज्ञानिको की वैषयिकता उसकी पहचान से प्रभावित-निर्मित होती है जो कभी धर्म, राष्ट्र, जाति के सन्दर्भ मे होती है तो कभी परिस्थितियो मे सिमटी होती है जबकि पहले ये माना जाता था कि विज्ञानी मूल्य निरपेक्ष होता है। इसके नकारात्मक सयोग से हुए परमाणु विध्वन्स को ही ध्यान मे रखकर आइन्सटाइन ने कहा था कि यदि मुझे इस बात का जरा भी आभास होता कि 'परमाणु शक्ति का दुरुपयोग विध्वन्सकारी रूप मे किया जाएगा तो मैं कभी भी इस दिशा मे कार्य नही करता। मैं एक वैज्ञानिक के स्थान पर मोची बनना पसन्द करता।'

ये कैसी हवाएँ सरकती चली हैं,
दिए तो दिए दिल बुझे जा रहे हैं।

सत्तरहवी शताब्दी मे यूरोप की परिस्थितियो ने ये दिखा दिया कि राजनीतिक विचारधारा, दर्शन आदि से विज्ञान और वैज्ञानिक अलग नही रह सके हैं। इसलिए स्वस्थ विकास के लिए आवश्यक है कि विज्ञान का दर्शन सामाजिक स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान देकर विचारणाओ के पुराने और नकारात्मक स्रोतो से अपना सम्पर्क समाप्त करे, जिसको प्रत्यक्षवाद ने एक सीमा तक अपनाया था।

5

भाषा की शक्ति

ज्ञान के नए स्वरूपो और विश्लेषण तथा दृष्टिकोण के नए उपागमो के उभरने के कारण 20वी शताब्दी के मध्य से ही पूर्व स्थापित सिद्धान्तो और मान्यताओ का लुप्त होना प्रारम्भ हो गया था। इस प्रक्रिया मे पुरानी चीजो के लुप्त होने के साथ-साथ कुछ नयी चीजो का आविर्भाव भी हुआ। ज्ञान एव विश्लेषण के सन्दर्भ मे उभरी भाषा-विज्ञान की क्रान्ति इन्ही मे से एक थी। इसका प्रारम्भ सासोरियन खोज तथा विडगिस्टाइन के शोध से माना जाता है। सत्तर के दशक के आते-आते भाषा-विज्ञान के विकास के परिणामस्वरूप इसमे भी कई सम्प्रदायो का निर्माण हो गया जिनका नेतृत्व अमेरिका में नोआम चॉम्स्की, यूरोप मे विडगिंस्टाइन और मार्लेपांटी तथा फ्रांस में देरिदा, लाका आदि द्वारा किया जा रहा था। चूँकि ये सभी सम्प्रदाय और इन सम्प्रदायो से सम्बद्ध विद्वान मूलत भाषा-विज्ञान पर केन्द्रित थे, इसलिए इन सबकी यह सामान्य और प्राथमिक मान्यता थी कि दुनिया की सारी भाषाएँ एक जैसी हैं और इनमे विभिन्न आधारो पर यदि कोई अन्तर या सस्तरणात्मक विभाजन दिखता है तो वह इतिहास और सस्कृतियो द्वारा अनुपालित परस्पर भिन्न मार्गो और पद्धतियो के अनुसरण के कारण निर्मित हुआ है। बाद मे इसी मान्यता को आधार बनाकर नारीवादी आन्दोलन ने "जैविकीय समरूपता" के सन्दर्भ मे स्वय को स्थापित किया। लेकिन यहाँ पर भी इतिहास और सस्कृति के आधार ऐसे हैं जो इन प्राथमिक सरचनाओ और मान्यताओ पर ऐसी परतो का निर्माण करते है कि ये परस्पर अलग-अलग और भिन्न दिखाई देने

लगते है और क्रमश इनमे श्रेष्ठता और हीनता पर आधारित संस्तरणात्मक और खण्डात्मक व्यवस्था पनप जाती है। सम्भवत यही कारण है कि इतिहास और सस्कृति ने मानवता को समूहो, समाजो और देशो मे इस तरह विभाजित कर दिया है कि व्यक्ति और सस्थाएँ सापेक्षिक रूप से वृहत्तर व्यवस्था मे अपने आकार और क्रम के निर्धारण मे ही "व्यस्त" और परस्पर "सघर्षशील" रहने मे ही छीज जाती हैं।

इन लोगो ने विश्लेषण के सहारे ये बताया है कि भाषा वही अच्छी होती है जिसकी आम स्वीकार्यता अधिक हो तथा जिसमे पूर्वाग्रह और वस्तुनिष्ठता आरोपित न की जाती हो। इनका प्रसिद्ध कथन "भाषा का स्वरूप जीवन का प्रारूप निर्मित करता है", भाषा की इसी सक्षमता को प्रतिरूपित करता है, लेकिन यह एक विडम्बना सी ही प्रतीत होती है कि उत्तर-आधुनिकता और वैश्वीकरण के इस दौर मे ऐसी भाषाओ का अभाव हो गया है जो सामान्य और विशेषज्ञो तथा पूरब-पश्चिम के प्रत्येक स्तर पर समरूपता और समन्वय स्थापित कर सके। भाषाई-भिन्नता और भाषाई-दूरी शक्ति के वितरण को भी विखण्डित और असमरूप कर देती है। सम्भवत यही कारण है कि पूँजीवाद के आने से जब स्पेन का दबदबा पूरी दुनिया मे बढ गया तो पूरी दुनिया मे स्पेनिश भाषा छा गयी। लेकिन 19वी शताब्दी के आते-आते दुनिया मे इंग्लैण्ड के बोलबाले ने अग्रेजी को क्रमश एक शक्ति-सम्पन्न और लोकप्रिय भाषा बना दिया।

इक्कीसवी शताब्दी मे जब विश्व की एकमात्र महाशक्ति के रूप मे सयुक्त राज्य अमेरिका हावी है तब अमेरिकन-अंग्रेजी का बहुस्तरीय प्रचार-प्रसार पूरी दुनिया मे हो रहा है और इसकी शक्ति निरन्तर बढ़ती जा रही है।

लेकिन इसी इतिहास और सस्कृति के सन्दर्भ मे हम ये देखते है कि मात्र कुछ शताब्दियो पूर्व यूरोप मे इटालियन को साहित्य की भाषा, फ्रांस को राजकीय भाषा, अग्रेजी को प्रशासन की भाषा और जर्मन को तकनीक और उद्योग की भाषा के रूप मे मान्यता प्राप्त थी। ये मान्यताएँ आरोपित और अध्यारोपित नही थी बल्कि वर्चस्व, प्रभाव और उपयोगिता की ऐतिहासिक तथा सास्कृतिक गहराइयो से उभरी थी। ब्रिटिश शासन से पूर्व अपने देश में भी फारसी को प्रशासन, उर्दू को

शेर-ओ-शायरी, हिन्दी को साहित्य एव जनभाषा तथा संस्कृत को देव भाषा का स्तर प्राप्त था। सम्भवत इसके पीछे भी इतिहास के तत्वो और शक्ति तथा वर्चस्व की छायाओ का ही प्रभाव था। लेकिन स्थिरता और उपयोगिता के दृष्टिकोण से यदि देखा जाये तो प्रतीत होता है कि वास्तव मे अधिकाधिक भाषाओ का गहन ज्ञान अपेक्षाकृत अधिक प्रभावी और उपयोगी होता है वनस्पति इसके कि भाषाई ज्ञान सीमित और सिमटा हुआ हो। रवीन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार भाषाएँ उस सौतन की तरह होती है जो बेरुखी दिखाने पर निर्मम रूप से दूर हो जाती है और प्रेम प्रदर्शित करने पर सर्वस्व न्यौछावर कर देती है। दुर्भाग्यवश नए राष्ट्रो की निर्माण प्रक्रिया के साथ भाषाओ के सकट भी उभर कर सामने आए हैं। विश्व रगमच पर कई आन्दोलन ऐसे भी हुए है जिनमे विभाषियो को राष्ट्रद्रोही कहा गया है। ऐसी प्रवृत्तियो के कारण राष्ट्र भी भाषाओ के प्रभाव मे विभाजित और सापेक्षिक राष्ट्रीयता के शिकार बन अस्त-व्यस्त हो जाते है। इस आलोक मे यदि देखा जाये तो भारत मे स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् त्रि-भाषा सूत्र (अग्रेजी, हिन्दी तथा क्षेत्रीय भाषा) प्रस्तुत करने वालो की सूझबूझ की प्रशसा करनी होगी जिन्होने भाषा आधारित सम्भावित दुविधाओ और सघर्षो का पूर्वानुमान कर इनसे देश को परे रखने के प्रयास किए। लेकिन राजनीतिक सकीर्णतावश व्यवहार मे इसे नकार दिया गया जिसका सबसे बुरा असर हिन्दी क्षेत्र पर पडा। इसमे साठ के दशक के तथाकथित समाजवादी आन्दोलन की भी महत्वपूर्ण भूमिका थी। यह आन्दोलन आने वाली पीढ़ी के प्रति प्रदर्शित की गयी घातक अदूरदर्शिता था जिसने ढोग और स्वार्थ की रोटियाँ आम जनता के भाग्य को जलाकर सेकी। इस आन्दोलन के नेताओ के बच्चे तो विदेशी और कान्वेन्ट स्कूलो मे शिक्षित होते रहे लेकिन आन्दोलन की शक्ति बनाये गये निर्धन और सामान्य लोगो को एक षडयन्त्र के तहत विकास की मुख्य धारा की भाषा को सीखने से वचित कर दिया गया। परिणामत प्रत्येक ढलते दिन के साथ उस आन्दोलन का प्रभाव हिन्दी भाषी क्षेत्रो को "इलिट" से "डिलिट" करता गया और "बीमारू" के रूप मे आज परिणाम जगजाहिर है। यह स्वरूप हमे दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रागण मे प्रत्यक्षत दिखता है। अगर आप आज की दिल्ली सस्कृति पर दृष्टिपात करे तो वहाँ दो ही भाषाएँ नजर

आती है। पहली कार्यालयी और कैंपस की भाषा जो स्लैंगयुक्त अंग्रेजी है और दूसरी रूखी हिन्दी जो बसो, नुक्कडो, चाय की दुकानो तक सीमित हो गयी है। हिन्दी भाषी क्षेत्रो के छात्र इन दोनो स्थितियो के बीच असहाय, बेबस, हतप्रभ और भौंचक्के से फँसे रहते है क्योकि प्रतिभा सम्पन्न होने के बावजूद अंग्रेजी भाषा से कटे रहने के कारण उस नये परिवेश मे एक लम्बा समय "मुझमे भी प्रतिभा है" बताने मे ही बीत जाता है। इसीलिए विकास के रास्ते पर देर से आने वाले ये लोग अंग्रेजी के प्रभाव और वर्चस्व वाले रास्तो पर अक्सर पिछड़ जाते हैं।

दिल्ली विश्वविद्यालय मे एक अतिथि के रूप मे मुझसे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मे पढे प्रतिभाशाली पूर्व छात्र-अक्सर मिलते रहते थे जो अपनी जीजिवीषा के बूते अपनी प्रतिभा को विलम्ब से ही सही, प्रदर्शित करने मे सफल रहे है। लेकिन यह आश्चर्य की बात है कि "दिल्ली स्कूल ऑफ इकॉनॉमिक्स" मे स्नातकोत्तर पूर्वार्द्ध के 55 विद्यार्थियो मे 50 लड़कियाँ हैं और यही हाल स्नातकोत्तर उत्तरार्द्ध का भी है तथा साथ ही अन्य अनुशासनो (विषयो) का भी। इनमे बहुत कम लडकियाँ ऐसी है जो सिगरेट नही पीती हैं और पहनावा आदि तो खैर पाश्चात्य है ही। प्रोफेसर से लेकर चपरासी तक, शायद ही कोई ऐसा होगा जो अंग्रेजी के सिवा कुछ बोलता हो। ऐसी स्थिति मे हमारे परिवेश के लड़के यदि अंग्रेजी जानते भी हैं तो अपनी जडो से कटकर रह जाते है और यदि नही जानते तो छात्रावासो के कमरो मे सिर टकराते रहते हैं। दिल्ली शहर तथा विश्वविद्यालय मे वर्ग साफ नजर आते हैं और उनसे सम्बन्धित भाषाओ की शक्ति का अहसास होता रहता है। ये जानने-समझने और महसूस करने के बाद इस कारण को और भी बल मिलता है कि भाषाओ का अधिकाधिक ज्ञान सदैव ही उपयोगी होता है। अक्सर भाषा-ज्ञान का वैविध्य आवश्यकता से अनिवार्यता मे परिवर्तित हो जाता है। अब जबकि भूमण्डलीकरण ने भौगोलिक सीमाओ को कमजोर कर दिया है, लेकिन "पासपोर्ट" के महत्व को बढ़ा दिया है, इस युग मे वर्चस्व का एक महत्वपूर्ण पैमाना अंग्रेजी भाषा का ज्ञान है और हर जगह वही नजर आ रहे हैं जिन्होने अंग्रेजी से याराना बना लिया है। ऐसी स्थिति मे ज्ञान हो या ना हो, कोई विशेष अन्तर नही आता। आज प्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजी पूरे

विश्व मे शक्तिशाली और सम्पन्न राष्ट्रो के व्यक्तियो और वर्गों के वर्चस्व की प्रतिनिधि भाषा बन चुकी हैं जिसके प्रभाव मे यूरोप मे पूर्व मे स्थापित रही भाषाओ के दायरे क्रमश सिमटते जा रहे है। यह और बात है कि वहाँ के विद्यालयो, महाविद्यालयो, विश्वविद्यालयो मे अंग्रेजी के अलावा अन्य यूरोपीय भाषाएँ सीखने के विकल्प उपलब्ध है, लेकिन इसके विपरीत हमारे यहाँ विद्यार्थी लाख प्रयासो के बाद भी एक-दो भाषाओ से आगे नही जा पाते। एक ऐसे वर्तमान मे, जहाँ भौगोलिक सीमाएँ अर्थहीन हो रही है और जीविकोपार्जन की खोज मे घर छोड़ना आवश्यकता बन गया है, व्यक्ति की सबसे बड़ी शक्ति भाषाओ के ज्ञान के रूप मे ही उभरती है।

6

नव-रूढ़िवाद के वैश्विक परिप्रेक्ष्य

इस नव-रुढ़िवाद और नव-साम्राज्यवाद के अन्तर्गत अब सघर्ष से समझौते का वह स्वरूप नही रहा जिसमे अमेरिका, देशो के मध्य विवादो/सघर्षों की स्थिति मे मध्यस्थता किया करता था। अब इसके स्थान पर वह सिर्फ देशो के सन्दर्भ मे अपनी वाछित-अवाछित भूमिकाएँ सम्पादित करने लगा है जिनमे उसे अधिकतम लाभ की सभावनाएँ दिखती है।

इस शताब्दी के प्रारम्भ मे ही इतनी विश्व स्तरीय दुर्घटनाऐं हो गयी कि इनको किसी एक श्रेणी-विशेष मे रखना और सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से विश्लेषित करना टेढ़ी-खीर की तरह हो गया है। फिर भी अपने-अपने दृष्टिकोण से तथा अपनी-अपनी बौद्धिक सीमाओ मे लोगो ने इन घटनाओ को जानने-समझने के प्रयास किये है। किसी ने इन घटनाओ को तकनीकी बनाम प्रकृति, विकसित बनाम विकासशील (अविकसित), धर्म बनाम विज्ञानवाद तो किसी ने राष्ट्रवाद बनाम सजातीयता के पैमाने से मापा है। लेकिन ये पैमाने दोहरे है जिनका प्रत्येक पहलू चर्चा के बिन्दु के रूप मे चर्चित रहा है। वर्तमान मे बौद्धिकता के क्षेत्र मे अमेरिकी वर्चस्व, उसकी महाशक्तिवाद तथा विदेश नीति एव इनके प्रभाव मे विच्छिन्न होते सम्बन्धो तथा अन्तर्राष्ट्रीय समीकरणो के अप्रत्यक्ष परिणामो के रूप मे आने वाले वैश्विक परिवर्तनो के परिवादो के उभरने की

सम्भावनाएँ आज बलवती होती प्रतीत हो रही हैं। आधुनिक विश्व चूँकि सस्ती सूचना तकनीक और संचार मनोरजन चैनलो की गिरफ्त मे हैं, इसलिए विश्व के किसी भाग मे घटी कोई भी महत्वपूर्ण घटना न तो विश्व के सदर्भ मे महत्वहीन रह पा रही है और न ही इसे फैलने से देर तक रोका जा सकता है। इसीलिए विविध स्तरो पर किसी भी राष्ट्र के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष (सकारात्मक या नकारात्मक) से भी क्रमश सम्पूर्ण विश्व परिचित होता जा रहा है। लेकिन जिन परिस्थितियो एव कारको के प्रभाव मे ऐसा हो रहा है, उनकी पृष्ठभूमि एव प्रभावोत्पादकता के महत्वपूर्ण विन्दु क्या है? आइए इस पर समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विचार करते हैं।

नित्य परिवर्तित होती वैश्विक एव स्थानीय व्यवस्थाओ के अद्यतन घटनाक्रमो मे इराक मे अमेरिका और ब्रिटेन की सैन्य कार्रवाई मे कितने दोषी और कितने मासूम एव निर्दोष मरे, राष्ट्रो मे बहुरूपी भ्रष्टाचार मे कितनी वृद्धि हुई, शताब्दियो से विद्यमान निर्धनता मे कितना प्रसार हुआ; इस पर ध्यान देना आज द्वितीय या तृतीय स्तर की प्राथमिकता हो गयी है। इसके स्थान पर लोगो को अमेरिका का बहुपक्षीय रणनीतिक एजेण्डा नजर आ रहा है जिसमे नव-साम्राज्यवाद की उभरती प्रवृत्ति, इसको प्रश्रय देने वाले तत्व तथा इसके प्रसार के कारको की चर्चा अवश्यभावी हो गयी है। इस चर्चा का प्रथम बिन्दु तो यही है कि इस नव-साम्राज्यवाद मे अमेरिका सैन्य एव कूटनीति का निर्माण करता है तो उसके मूल मे ऊर्जा के स्त्रोतो एव ससाधनो पर वर्चस्व के निहितार्थ होते है। यह सम्पूर्ण विश्व की बेबसी के अलावा कुछ नही है कि प्रारम्भ मे वैश्विक सदर्भ के महान् एव स्वस्थ उद्देश्यो के साथ जिन महा-सस्थानो एव सगठनो का निर्माण किया गया, जैसे विश्व-व्यापार-सगठन जो विश्व के व्यापारिक नियम निर्धारित करता है, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष जो साख एव वाणिज्यिक सघ के रूप मे कार्य करता है तथा विश्व बैंक, जिसे सहायतार्थ बैंक की सज्ञा दी जाती है, आज प्रच्छन्न रूप से उस अमेरिका के सहयोगियो के रूप मे कार्य करने लगे है जो अपने साम्राज्य और हितो की सुरक्षा के बहाने देकर येन-केन-प्रकारेण, इनके प्रसार और सधान के लिए 'या तो मेरे साथ या उसके साथ' की दभी गर्जनाएँ करता रहता है। 'या तो मेरे साथ या उसके साथ' के परिप्रेक्ष्य मे ये तीनो ही सस्थान अमेरिकी-हितो के अनुकूल परिस्थितियाँ निर्मित कर उसे लाभान्वित करते

रहते है। माइकल हर्च की प्रसिद्ध पुस्तक *'ऐट वार विथ आवर सेल्वस'* इस परिस्थिति के विश्लेषण के साथ अमेरिका का भविष्य नकारात्मक बताती है क्योकि अमेरिका के 'खतरे के आभास से पहले ही आक्रमण' और अपने हित मे सम्बन्धित राष्ट्रो की सरकारे बदल देने (प्रीएम्शन एव चेंज ऑफ रिजीम) की नीतियाँ प्रजातन्त्र, स्वतन्त्रता और सुरक्षा से सम्बन्धित सपनो को (जिनका प्रसार स्वय उसी ने किया है) तार-तार कर रही है। इस पर तुर्रा यह कि अमेरिका के मुद्दो पर आधारित दोहरे मानदण्ड वाली अमेरिकी हिप्पोक्रेसी अब शेष विश्व की मेधा को भी समझ मे आने लगी है। इस मेधा की अब यह सस्थापित मान्यता है कि अमेरिका एक ओर बाते तो प्रजातन्त्र की करता है तो वही दूसरी ओर अपने स्वार्थ को साधने के लिए निकृष्टतम तानाशाहो के लिए अपने रगमहल के दरवाजे भी खोल देता है। साथ ही वो पेट्रोलियम के क्षेत्रो एव वितरण व्यवस्था पर अधिकार एव नियन्त्रण स्थापित करने के लिए क्षेत्र-विशेष के नियोजित विकास की बाते करने के साथ-साथ अपने किसानो के हितो को सुरक्षित रखने के लिए अफ्रीका के किसानो को विश्व व्यापार सगठन के नियमों और अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार मे प्रतिकूल वाणिज्यिक परिस्थितियाँ बनाकर और भी निर्धन कर देता है। यही इसका नव-रुढिवाद है। यदि उसके इन कृत्यो की ओर यूरोपीय देश सकेत करते हैं तो यह उदघोषणाएँ करता है कि 'वर्तमान यूरोप एक वृद्ध और अशक्त यूरोप है'। यह अमेरिकी प्रशासन की प्राय मान्यता ही बन गयी है कि आज का वर्तमान वृद्ध और अशक्त यूरोप कुद बुद्धि भी हो गया है। डोनाल्ड रम्सफील्ड का गढ़ा हुआ यह मुहावरा मुख्यत फ्रास और जर्मनी की ओर सकेत करता है। अन्य प्रशसित एव प्रसिद्ध पुस्तको जैसे *'वॉल्स ऑफ हेट'* तथा *'रूज नेशन्लिज्म'* मे भी इस तरह की बाते परिलक्षित होती हैं। इनके माध्यम से इनके लेखको का कहना है कि अमेरिका के पास इस समय जो एजेण्डा है वो उपरोक्त बातो के अलावा तथाकथित प्रजातन्त्र और राष्ट्र निर्माण के कार्यक्रमो को अपने लाभ के लिए सम्बद्ध राष्ट्रो के ऊपर थोपना भी है। विगत दो वर्षो मे चाहे वो लादेन-मुल्ला उमर के नाम पर अफगानिस्तान का विध्वंस हो, सद्दाम के नाम पर इराक पर अधिकार हो या यूरोप के प्रति (ब्रिटेन को छोड़कर) उसकी कटुता हो, इनसे यह स्पष्ट होने लगा है कि अब वह यूरोप जैसे स्वीकार्य और पारम्परिक सहयोगी के स्थान पर तदर्थ गठबन्धनो का सामरिक एव कूटनीतिक उपयोग करना प्रारम्भ कर चुका है क्योकि तदर्थ गठबन्धन सदैव ही पूरी तरह से

उसके नियन्त्रण मे, उसकी इच्छा से और उसके हित मे कार्य करते हैं। यह एक नया विरोधाभास है कि वह पुराने यूरोप को नकार कर मुस्लिम राष्ट्रो को राष्ट्र निर्माण कार्यक्रमो के अन्तर्गत लाकर विश्व को विचित्र सकेत दे रहा है। चूँकि उसके ऐसे कार्यक्रम अपने अन्तर्विरोधो के कारण एक सीमा के बाद सफल नही हो पा रहे है तथा इनके विपरीत परिणाम स्वय अमेरिका पर ही पड़ रहे है, इसलिए शेष विश्व के सदर्भ मे अब नए वैकल्पिक मानदण्डो का उभार हो रहा है। इनमे सुरक्षा, प्रेम, पडोस, सस्थाओ आदि के पुनर्स्थापित होते महत्व के लाक्षणिक तत्व सम्मिलित है। इनकी बाते 60 70 के दशको मे जोर-शोर से की जाती थी, पर बाद मे आधुनिकता की प्रक्रिया के दौर मे ये सभी मुद्दे दब गए थे। इन सारी चीजो के क्रम मे ब्रिटेन जो अब तक अमेरिकी पिछलग्गू की भी भूमिका मे दिखता आया है, की मौलिकता भी द्वंद्व मे फँस गयी दिखती है। उदाहरण के तौर पर उसके प्रथम आधुनिक यातायात नियम को ही ले, जिसके अनुसार बाए चलने की जो व्यवस्था है वो उसके प्रिय अमेरिका मे दाए चलने के निर्देश देती है। इसी प्रकार ब्रिटेन का सिनेमा अमेरिका मे 'मूवी' तथा ब्रिटेन का बिस्कुट अमेरिका मे 'कुकीज़' बन गया है। ब्रिटेन की सास्कृतिक अंग्रेजी अमेरिका मे शार्ट कर्ट और स्लैग्स के साथ एक विद्रूप स्वरूप धारण कर चुकी है। ये अप्रतिम अमेरिकी निरालापन है, लेकिन विद्वत जनो की ये राय (उपरोक्त सदर्भित पुस्तको के माध्यम से) है कि अमेरिका नवरूढ़िवाद और नव-साम्राज्यवाद के जिस रास्ते पर चल रहा है वह न तो उसे किसी प्रकार की आश्वस्ति देता है और न ही उसे दूर तक जाने वाला है जिसके सहारे अमेरिका अपना वाछित और नियोजित लक्ष्य पा सकेगा। इसका एक सकेत यह है कि दो वर्ष पूर्व से ही अमेरिका मे चुनावी वातावरण बनने लगा है और इसकी अनुगूज अब सम्पूर्ण विश्व मे सुनी जा सकती है। अफ्रीका-एशिया के देशो सहित विश्व ने (अमेरिकी गठबन्धन को छोड़कर) अमेरिकी पक्ष मे इराक मे सैना भेजने से इन्कार कर अमेरिकी खण्डन की प्रक्रिया सम्भवत प्रारम्भ कर दी है और यूरोप ने तो इस सदर्भ मे अमेरिका को बार-बार कोस कर अपना दृष्टिकोण और अप्रसन्नता प्रदर्शित की ही है। नव-रूढ़िवाद के साये मे नव-साम्राज्यवाद जिस रूप मे दिख रहा है; चाहे वो फूकोयामा का *'ग्रेट डिप्रेशन'* हो या विल्स का *'मोर डेमोक्रेसी'* सब के सब नव-साम्राज्यवाद के अग्रिम तथा समर्थक साधनो के रूप मे उभरे प्रतीत होते हैं क्योकि इनकी चर्चा कि — आने वाले दशक प्रजातन्त्र और स्वतन्त्रता के

सुनहरे दशक होगे, के आलोक मे निर्मित अमेरिकी महत्वाकाक्षा '*कम प्रजातन्त्र अधिक नियन्त्रण*' की बाते कर रही है। उसे अपनी कुरीतियो एव कुपथो के दुष्परिणामो की आलोचना तो असहनीय लगती ही है।

इस नव-रूढ़िवाद और नव-साम्राज्यवाद के अन्तर्गत अब सघर्ष से समझौते का वह स्वरूप नही रहा जिसमे अमेरिका देशो के मध्य विवादो/सघर्ष की स्थिति मे मध्यस्थता किया करता था। अब इसके स्थान पर वह सिर्फ देशो के सदर्भ मे अपनी वाछित-अवाछित भूमिकाएँ सम्पादित करने लगा है जिनसे उसे अधिकतम लाभ (विशुद्ध बनिया प्रवृत्ति) होने की सम्भावनाएँ दिखती है। इसके लिए 'मध्यस्थता' की दीर्घकालिक और लचीली कवायदो के स्थान पर वो शासन परिवर्तन के तीव्र एव तुरन्त प्रयासो को अपना रहा है, भले ही इससे सम्बन्धित देशो की सम्पूर्ण विरासत तहस-नहस हो जाए, उनकी सामाजिक, आर्थिक, सास्कृतिक एव राजनीतिक व्यवस्थाएँ ध्वस्त हो जाएँ और हजारो निर्दोषो के प्राण चले जाएँ। वस्तुत इसके (विकसित देशो के साथ) द्वारा बार-बार प्रजातन्त्र, स्वतन्त्रता, मानवाधिकार, सतुलित विकास तथा पर्यावरण सरक्षण-सतुलन की दुहाई देकर विकासशील देशो को व्यावहारिक एव वैचारिक द्वन्द्वो मे उलझाने के प्रयास किए जाते रहे है। लेकिन इसके जस्टिफिकेशन के कोई मानवीय आधार नही है और इतिहास के दृष्टान्त साक्षी है कि अमानवीय सभ्यताए एव सास्कृतियो की स्थिति काठ की हाडी की भाति होती है जो दुबारा नही चढती।

फिराक खिलवत मे अक्सर सोचता हूँ
कि तहजीबे क्यो गरऊब हो हुई जाती है।

7

शक्ति आधारित नव-रूढ़िवाद

संयुक्त राज्य अमेरिका का इराक के साथ घोषित तौर पर लड़ा गया युद्ध एक ऐसा युद्ध रहा है जिसको अमेरिकी राष्ट्रपति की आधिकारिक रूप से औपचारिक युद्ध की समाप्ति की घोषणा के बावजूद समाप्त नही माना जा सकता है। ऐसा इसलिए कि न तो किसी ने आत्मसमर्पण किया है और न ही सामूहिक सहार के जैविक या रासायनिक अस्त्र-शस्त्र मिले है जिनके बहाने सयुक्त राज्य अमेरिका ने एकतरफा और एकपक्षीय युद्ध प्रारम्भ किया था। ऐसा इसलिए भी कि इस "युद्ध" मे न तो बगदाद की ओर से आत्मरक्षा के प्रयास किए गए और न ही "युद्ध समाप्ति" के पश्चात वहाँ सद्दाम हुसैन के शासन काल के तानाशाह दिनो की "असतुष्ट", "भयभीत" और "प्रताड़ित" जनता ने "मुक्ति" की शहनाइयाँ बजायी। ऐसे मे ऐसा कुछ भी नही है जिसके बल पर अमेरिका अपनी "जीत" पर गर्व कर सके। इसलिए "युद्ध" और "युद्ध-पश्चात्" की स्थितियो से सदर्भित जितने भी लेख अब तक आये है पौर्वात्य (प्राच्य) और पाश्चात्य बौद्धिको की ओर से, उनमे कम से कम दो चीजो पर सहमति दिखती है — पहला यह कि अमेरिका मध्य-पूर्व एशिया पर अपने सामरिक वर्चस्व को स्थापित कर उस इस्लामी शक्ति को कुचलना चाहता था जो भविष्य मे उसके "रास्ते का पत्थर" बन सकती थी और दूसरा यह कि इसी उद्देश्य के साथ सद्दाम जैसे शासक और इराक जैसे "दुष्ट राष्ट्र" को सबक सिखाने के बहाने पेट्रोलियम जैसे समाप्त होते जा रहे ऊर्जा के महत्वपूर्ण श्रोत पर वो अपना नियन्त्रण और अधिकार स्थापित करना चाहता था।

ओसामा-बिन-लादेन जो अरब राष्ट्रवाद के प्रतिनिधि के रूप मे उभर रहा था वह अरब जनमानस की इज़राइल विरोधी भावना के उभार का भी द्योतक था। इसको कुचलने-दबाने के लिए अमेरिका ने कभी सयुक्त राष्ट्र सघ का प्रयोग किया तो कभी उसे धता बताकर पूर्णत अपनी मनमानी भी की। इसने आज के तेजी से परिवर्तित होते परिवेश मे सम्पूर्ण विश्व मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो और शक्ति-सन्तुलन के सदर्भ मे एक विचित्र सी स्थिति निर्मित कर दी है। पश्चिमी यूरोप, जो परम्परागत रूप से अमेरिका का "साथी" और "समर्थक" रहा है, आज अमेरिका के साथ अपने सम्बन्धो के सदर्भ मे दिग्भ्रम की स्थिति मे दिख रहा है। फ्रास-जर्मनी ने हाल ही मे ब्रूसेल्स मे एक चतुर्राष्ट्रीय शक्ति सगठन का निर्माण किया है जो सैन्य स्तर पर विपरीत एव विश्म परिस्थितियो मे मिलकर काम करेगा। इसके सहारे उनकी नाटो पर निर्भरता कम करने की योजना है क्योकि इराक युद्ध के पूर्व और पश्चात् की घटनाओ ने नाटो पर उनके भरोसे को विखण्डित और सदेहास्पद बना दिया है। इराक युद्ध मे फ्रास द्वारा अमेरिका का साथ न देने के कारण अमेरिका द्वारा ये घोषित करना कि वो नाटो से फ्रास को बाहर कर देगा, इसकी जड़ मे है। ब्रिटेन, जो अपने उपनिवेशो पर नियन्त्रण खो चुका है नवनिर्मित अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो मे अमेरिका का पुछल्ला बनकर "कुछ खोया हुआ" पुन प्राप्त करना चाहता है। यही कारण है कि शेष यूरोप की तेजी से प्रस्थापित होती अन्तर्राष्ट्रीय पहचान और यूरो के माध्यम से उभरती आर्थिक शक्ति के आयामो से डरा-सहमा ब्रिटेन स्वार्थ-सिद्धि को अवाछित हथियार अपनाने की हद तक उतर आया है। इससे विश्व-युद्धोत्तर विश्व मे उभरते वैकल्पिक बहुराष्ट्रवाद तथा क्षेत्रीय अस्मिता जैसी अन्तर्राष्ट्रीय प्रक्रियाओ की रेखाएँ धूमिल होती दिखने लगी हैं। उधर अमेरिका मे असुरक्षा एव आशकाएँ इतनी बढ़ती जा रही हैं कि वह अपनी परछाई से भी डरने लगा है। वैश्वीकरण, अन्तर्राष्ट्रीयवाद, मानवाधिकार भले ही सुनहरी मुहावरे रहे हो, आज उसके लिए पासपोर्ट, नस्ल तथा धार्मिक पहचान के बिन्दु ज्यादा महत्त्वपूर्ण बन गए है। उसकी उलझने इस सीमा तक बढ़ गई है कि आज न सिर्फ उसकी "परराष्ट्र नीति" पर बल्कि आन्तरिक स्थिति पर भी प्रश्नचिन्ह लगाए जा रहे और फिकरे कसे जा रहे हैं। सुना जा रहा है कि इराक का प्रशासनिक

व्यवस्थापक एक अवकाश प्राप्त जनरल गारनर, जो जन्म से एक यहूदी है तथा जो इज़राइल का पक्षधर है, को सौंपा जाने वाला है। इससे इज़राइल परस्त अमेरिकी नीति को और भी शक्ति प्राप्त हो सकेगी। साथ ही, इराक के नवनिर्माण के क्रम मे भीमकाय ठेको की अमेरिकी बन्दरबाँट की प्रक्रिया भी सिद्ध करती है कि अमेरिका की अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियो तथा विदेश-नीति के सचालन मे नव-रूढ़िवादियो की भूमिका क्रमश कितनी महत्वपूर्ण होती जा रही है। लेकिन इसमे एक सम्भावित मुश्किल यह दिख रही है कि इराक के नव-निर्माण के ठेके तो अमेरिका को मिल गए हैं लेकिन इतना भी तय है कि इराकी गुरिल्ले उनको "टारगेट" अवश्य बनाएँगे। इसलिए यह सम्भव है कि एक बार पुन अमेरिका को श्रमिको के सदर्भ मे दक्षिण-एशिया के कार्यशील मानव ससाधन पर ही निर्भर होना पड़े। इधर भारत, पाकिस्तान तथा चीन समेत अनेक राष्ट्र बेलगाम अमेरिकी कार्रवाई से न सिर्फ घबराए हुए हैं बल्कि नवीन परिस्थितियो से सामजस्य स्थापित करने और अपनी प्रतिष्ठा बहाल रखने की जद्दोजहद से भी जूझ रहे है। आज जहाँ एक ओर "दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय पहल" की बाते उभरने लगी है, वही "भारत-पाक सुलह" के प्रयास भी नए सिरे से गति पकड रहे हैं। ऐसा प्रतीत हो रहा है कि इराक पर अमेरिका के एकतरफा हमले के कारण शीत-युद्ध की समाप्ति के परिणामो को एक आकार मिलने लगा है जिससे विश्व एक बार पुन विखण्डित और पुरानी संरचनाओ को तोड़ने वाली प्रक्रियाओ पर आधारित होने लगा है। इस तरह से जो कभी सुलझे या सुलझते हुए वैश्विक प्रश्न थे, जिनको 18वी शताब्दी की प्रगतिशीलता ने एक सकारात्मकता दी थी, वे आज नए सिरे से रह-रहकर उभरते जा रहे है। राष्ट्र, विश्व और वर्ग के अलावा आज धर्म, क्षेत्रीयता और प्रजाति के मापदण्ड अधिक महत्वपूर्ण प्रतीत होने लगे हैं। इस तरह "नव-विश्व निर्माण" की जो प्रक्रिया राष्ट्र-राज्य, नागरिकता, प्रजातन्त्र, मानवाधिकार और स्वायत्तता जैसी अवधारणाओ के साथ प्रारम्भ की गयी थी तथा जिन व्यावहारिकताओ के सहारे अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओ पर बन्दूको-तोपो को खामोश रखने के प्रयास किए जा रहे थे, आज वे बेमतलब के और अप्रासगिक सिद्ध हो रहे हैं। ऐसे मे पूर्व-वर्णित नारे कहाँ जाएँगे? "लक्ष्य-तार्किकता" स्वयमेव नए प्रतिमानो और

सरचनाओ को शक्ति के माध्यम से न सिर्फ स्वीकारती है बल्कि उसे लोकप्रिय, प्रतिष्ठित और सफल भी बना देती है।

फिर क्या उपयोगिता और प्रासगिकता रह जाती है शताब्दियो के विकास की? मेधा, तकनीक और विज्ञान की हतप्रभ कर देने वाली प्रगति के बाद भी विश्व "राष्ट्रवाद" व क्षेत्रीयता प्रजातीयता, सामूहिकता और शक्ति-पुजो मे नकारात्मक रूप से विभाजित दिखाई देता है। हालाँकि इससे सम्बन्धित उभरे प्रश्न नए नही हैं और समय-समय पर इनमे उबाल भी आते रहते हैं लेकिन यह भी महत्वपूर्ण अवधारणात्मक बिन्दु है कि स्वार्थ पदार्थवाद भी है। इसमे पार्सन्स के समाजशास्त्रीय उपागम निहित हैं। लेकिन इसके सहारे "स्वार्थ और वर्चस्व" को बनाए रखने या उन्हे तार्किक रूप से स्वीकार्य सिद्ध करने वाले चाहकर भी सदेहास्पद तत्वो को इस क्रम मे उभरने से नही रोक पाते हैं, वो तत्व चाहे धर्म के हो अथवा जातीयता और अलौकिकता के हो। विज्ञान ने लम्बे समय तक स्थापित रहे धर्म और धार्मिकता की इस प्रकार हसी उड़ाई है कि लोग बेबसी मे तो उसकी ओर जाते हैं, लेकिन अपने हितो और वर्चस्व हेतु इसे गौण बनाते समय या तो उसे भूल जाते हैं या उसकी अनदेखी कर जाते हैं। क्योकि ये पूँजीवाद का मौलिक चरित्र है जो अपनी दौड़ मे उन सारी स्थापनाओ, सरचनाओ और स्वीकार्यताओ को ही द्वद्वात्मक बना देता है जिन पर वो स्वय आधारित होता है। इसलिए पूँजीवाद की यात्रा के इस नए मोड मे हमे वर्चस्व और शक्ति के नए रुप देखने को मिल रहे हैं। सद्दाम के बहाने बुश के प्रयास इसकी एक तात्कालिक परिणति नही है, बल्कि यह एक पूर्वनियोजित लम्बी यात्रा का एक पड़ाव है जिसकी मजिल अभी कही और किसी दूसरी दिशा मे है।

8

भारतीय समाज के समेकित स्वरूप का विकेन्द्रीकरण

यदि भारतीय राष्ट्र-राज्य को स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के परिप्रेक्ष्य मे समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया जाए तो बहुत कुछ स्पष्ट नजर आता है। स्वतन्त्रता के तुरन्त पश्चात् नेतृत्व द्वारा जब समाजवादी गणतन्त्र के रूप मे स्थापित करने के प्रयास किए जा रहे थे उस समय साम्यवादी दलो ने नेहरू का साथ नही दिया। इसी कारण इसकी जड़े वाछित सबलता प्राप्त नही कर सकी जिसका परिणाम असंतुलित वितरण और भ्रष्टाचार के प्रसार के रूप मे सामने आया। भारतीय राजनीति मे यह एक ऐतिहासिक भूल थी जिसको सुधारने के प्रयास नेतृत्व ने उस समय प्रारम्भ किए जव राजनीति मे सस्थाओ के प्रति वह प्रतिबद्धता शेष नही रही थी जो नेहरू युग मे थी। इस कारण असहमति की उपयोगिता को न सिर्फ नकारा गया बल्कि राष्ट्र-हित मे उसे एक बाधा के रूप मे देखा गया और आगे चलकर भारतीय प्रजातन्त्र मे असहमति और विरोध को जनआन्दोलनो मे जगह मिली।

वैसे तो भारतीय राष्ट्र-राज्य के निर्माण की प्रक्रिया का आधुनिक स्वरूप 1930 ई० के तुरन्त बाद से ही प्रारम्भ होता है, तथापि स्पष्ट और तीव्र रूप मे यह स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद ही सामने आई। भारतीय राष्ट्र-राज्य की परिकल्पना के केन्द्र मे 'समाजवादी जनतान्त्रिक गणतन्त्र' की अवधारणा है जिसमे एक ऐसे राष्ट्र-राज्य की रूपरेखा तय की गई है जिसकी अर्थव्यवस्था मे 'सार्वजनिक' और 'निजी' दोनो ही क्षेत्रो की सहभागिता पर बल दिया गया क्योकि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् निजी क्षेत्र के पास न तो उतनी पूँजी थी और न ही सार्वजनिक क्षेत्र के बिना आम नागरिको का रोजमर्रा का जीवन सहज हो सकता था। इसीलिए स्वतन्त्रता प्राप्ति हेतु एक अनवरत और दीर्घकालिक सघर्ष के पश्चात राष्ट्र के अग्रिम-पक्ति के नेतृत्व ने भारतवासियो को यथासम्भव नवीन और मौलिक सुविधाएँ उपलब्ध करवाने हेतु सैद्धान्तिक, वैचारिक और व्यावहारिक स्तर पर कई कदम उठाए। इसी के तहत कृषि के क्षेत्र मे विद्यमान अभावो की पूर्ति के सन्दर्भ मे अत्यधिक उपज हेतु कार्यक्रम बनाए गए। परन्तु एक विडम्बना के रूप मे उत्पादित अन्न के वितरण के क्षेत्र को अपेक्षाकृत उपेक्षित ही छोड दिया गया क्योकि सैद्धान्तिक, वैचारिक और व्यावहारिक प्राथमिकताओ मे यह बिन्दु सम्मिलित नही किया गया था। इसी भाँति सविधान निर्माण के पश्चात् कुछ सस्थाएँ जो राष्ट्र को औपनिवेशिक विरासत मे मिली थी, जैसे कि न्यायपालिका, कार्यपालिका, विधायिका, शैक्षणिक सस्थाएँ, रेल तथा सडक परिवहन, बेतार आदि, इनसे परस्पर गुँथते-बधते हुए मध्यम वर्ग ने अत्यन्त ही निष्ठापूर्वक आजादी के तुरन्त पश्चात् नए नेतृत्व को सम्भालने और सजाने-सवारने का प्रयास किए। इसीलिए नेहरू युग तक भारतीय प्रजातन्त्र के तीनो अग विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका राष्ट्र निर्माण की समेकित प्रक्रिया मे एक सीमा तक अपनी जडे जमा चुके थे। यह इसी नेतृत्व का चमत्कार और इस राष्ट्र की महानता थी कि उस समय 80 प्रतिशत हिन्दू जनसख्या होने के बावजूद यह राष्ट्र एक धार्मिक राष्ट्र मे परिणित नही हुआ हालाँकि इसका विभाजन ही द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त के आधार पर हुआ था। साथ ही इस राष्ट्र मे विश्व की पाँचवी सबसे बड़ी श्रमशक्ति होने के बाद भी साम्यवादी कसाव के प्रभाव से यह अछूता रहा और साम्यवाद पश्चिम बगाल और केरल से आगे नही बढ

पाया। इन परिस्थितियो और सम्भावनाओ से परे यह एक बहुलतावादी धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र के रूप मे विश्व-रगमच पर अवतरित हुआ जो शीत युद्ध के दौर मे प्राय असम्भव सा प्रतीत होता था। लेकिन यह नेहरू परम्परा की महानता थी जिसने व्यापक दूरदृष्टि के सहारे मौलिक सस्थाओ के साथ इस विशाल राष्ट्र की अनेकताओ को परस्पर कलात्मक ढग से गूँथे रखा। नेहरू युग की समाप्ति के पश्चात् एक नई पीढी के नेतृत्व ने राष्ट्र की बागडोर सम्भाली। इस दौर मे राष्ट्र-राज्य की केन्द्रीयता साम्यवाद की ओर हल्की सी आकर्षित हुई तथा प्राय. सेना की सक्षमता के प्रभाव से यह एक सफल दौर रहा। परिवर्तित परिस्थिति मे सत्ता और शक्ति को अपने नियन्त्रण मे बनाए रखने के क्रम मे इस नेतृत्व ने शेष सस्थाओ की जडो को कमजोर करने वाले निर्णय लिए। 1965 और 1977 का दौर सामाजिक-राजनीतिक सस्थाओ के बिखराव का दौर था जिसने अपनी परिधि मे क्रमश मूल्यो और आदर्शो को भी समेट लिया था। फिर भी दूसरी ओर प्रजातन्त्र की जडे तब तक इतनी सशक्त हो गई थी कि वो धर्म-विधर्म के बीच एक जीवित और विकासोन्मुख समाज का परिपोषण कर सकती थी। विगत दो दशको के प्रजातन्त्र और इसके माध्यम से विकास की प्रक्रिया ने भारतीय जनचेतना को काफी सीमा तक जागरूक बना दिया था जो सन् 1977 के बाद अँगड़ाइयाँ लेने लगी। इस जनचेतना ने न सिर्फ केन्द्रीय राज्य के झुकाव की दिशा और कोणो को मापने के प्रयास किए बल्कि इस पर अपने स्तर पर प्रश्न भी उठाए और इसने ऐतिहासिक भारतीय समाज के उस वर्ग को भी उभारा जो अब तक सत्ता, शक्ति और सामाजिक सन्दर्भ मे अमहत्वपूर्ण और उपेक्षित बना रहा था। 1970 के दशक के मध्य के पश्चात् राष्ट्र मे पारम्परिक रूप से स्थापित रहे शक्ति आभिजात्य को पहला झटका इस उभरती हुई जागरूक जनचेतना के माध्यम से लगा। यद्यपि इस जनचेतना के व्यापक प्रभाव को निष्क्रिय करने के प्रयास मे प्रधान मन्त्री को आपात्काल तक की घोषणा करनी पड़ी थी तथापि उस नेतृत्व मे प्रजातन्त्र के प्रति आस्था बनी रही थी और इसी के परिणामस्वरूप भारत से विश्व के अन्य राष्ट्रो की भाँति इसकी विदाई नही हो पाई। सन् 1977 के आम चुनाव भारतीय इतिहास के उस निर्णायक मोड़ के प्रतिनिधि हैं जिन पर जितना भी अध्ययन किया

जाए कम है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यदि देखा जाए तो ये चुनाव विभिन्न सामाजिक शक्तियो के आगमन के द्वार थे। इसके पीछे जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व की सम्पूर्ण क्रान्ति की अवधारणा थी जिसने विद्यार्थियो, युवाओ, श्रमिको और सम्पूर्ण राष्ट्र को परिवर्तन के नए आयामो और नई दिशाओ की ओर प्रेरित किया। इसका परिणाम भारत मे सर्वप्रथम क्षेत्रीय राजनीतिक दलो के निर्माण, उभार और विकास के रूप मे सामने आया तथा इसके कारण इन विभिन्न क्षेत्रीय राजनीतिक दलो मे परस्पर तादात्म्य स्थापित करने के अवसर तथा प्रासगिकताएँ मिली। इस नवीन परिवर्तनजन्य प्रक्रिया ने परम्परागत सामाजिक तथा शक्ति-आभिजात्य का स्वरूप ही बदल दिया। यह एक महान् सामाजिक आन्दोलन था जिसकी पृष्ठभूमि मे हिंसा का घुट सम्मिलित तक नही हो सका। लेकिन इस सन्दर्भ मे यह ग्यातव्य है कि इसका बीजारोपण राष्ट्रीय नेतृत्व ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त पश्चात् ही कर दिया था। अस्सी के दशक के बाद राजनीति के इन नए अनुभवो और सीखो ने नए नेतृत्व की प्राथमिकताओ मे ही आमूल-चूल ऐसे परिवर्तन ला दिए जिनके बारे मे पूर्व मे कभी कल्पना तक नही की गई थी। सत्तर के दशक मे प्रारम्भ मे इन सस्थाओ के क्रमश कमजोर होते जाने और 77 के पश्चात् परिवर्तन के नाम पर एक ऐसे राजनीतिक वर्ग को सत्ता और शक्ति प्राप्त होने के कारण राष्ट्र मे भ्रष्टाचार, अनैतिकता, मूल्यहीनता, प्रतिभा पलायन आदि जैसी सघातक प्रक्रियाओ ने न सिर्फ जन्म लिया बल्कि धीरे-धीरे सामाजिक स्वीकृति भी प्राप्त की क्योकि इस वर्ग की न तो प्राथमिकताएँ स्पष्ट थी और न ही उसे पूर्व मे ऐसे अवसर प्राप्त हुए थे और न ही इसके पास कोई व्यवस्थित और रणनीतिक तथा दीर्घकालिक कार्यक्रम था। आरक्षण की अतार्किकता, धार्मिक भावनाओ का उन्माद मे परिवर्तन, अवाछित, अयोग्य तथा असामाजिक तत्वो का जनतन्त्र की पवित्रता को कलुषित करने आदि ने राजनीति के प्रति आम और ईमानदार नागरिक के उत्साह को कमजोर किया है, क्षीण किया है।

उत्पादन के सन्दर्भ मे वितरण को स्वत सम्पन्न मानने की वैचारिक त्रुटि ने भी क्रमश अपना रग दिखाया जिसमे एक ओर निखरता हुआ पजाब था तो दूसरी ओर निरन्तर धूमिल होता हुआ बिहार। एक तरफ आधुनिक उद्योगो और तकनीक का

सम्बल बना कर्नाटक था तो दूसरी ओर भूख से त्रस्त उड़ीसा। तात्पर्य यह कि भारतीय राष्ट्र मे असतुष्टि ने विकास मे विभेदीकृत समाज को जन्म दिया, जिसमे निर्धनता और तुलनात्मक अभाव बोध के रग कुछ अधिक ही गहरे थे। इन्ही के मध्य नगरीय केन्द्रो मे मूलभूत ढॉचे के असतुलित वितरण और निरक्षर, निपढ और अज्ञानी लोगो के प्रजातन्त्र के पहरूओ के रूप मे सामने आने से जहॉं एक ओर कल्याणकारी राज्य की अवधारणा मे दलालो ने प्रवेश किया और अपना स्थान बनाया है, वही प्रजातन्त्र नागरिक-संस्कृति के बिना ही एक अनजान दिशा मे चलने को विवश हुआ है। जहॉं नौकरशाही मे आधारभूत मूल्यो का क्षरण हुआ है, वही समाज के सपनो का मानवीय आदर्शो से सरोकार टूटा है। कई विद्वानो की यह मान्यता है कि भारतीय राष्ट्र-राज्य मे ये परिस्थितियाँ इस कारण उत्पन्न हुई हैं कि यहाँ के सास्कृतिक मूल्य-मानदण्ड प्राचीन और परम्परागत समाज के हैं जिनकी तार्किकता उनकी प्रासगिकता मे निहित थी, जबकि नवीन पाश्चात्य प्रजातान्त्रिक मान्यताएँ दूसरे प्रकार की है। इन्ही के द्वद्व और पारस्परिक विषमता के कारण भारतीय समाज की सस्थागत कमियाँ प्रकाशमान होने लगी है। अस्सी के दशक की समाप्ति तक इनके कारण ऐसे आन्दोलनो का प्रादुर्भाव हो चला था जिनमे उप-राष्ट्रवाद के तत्व सम्मिलित थे तथा जिन्होने राष्ट्रीय केन्द्रीयता और एकता के लिए गम्भीर खतरे उत्पन्न करने प्रारम्भ कर दिए तथा जिनका घातक प्रभाव भारतीय राष्ट्र-राज्य के विकास के प्रत्येक मे सन्दर्भ मे स्पष्ट देखा जा सकता है। यह अकारण नही है कि प्रत्येक चुनाव मे भारतीय समाज विभिन्न स्तरो पर विखण्डित और विभाजित प्रतीत होने लगता है, जिनमे जाति, धर्म, समुदाय और क्षेत्रीयता के स्वार्थी तत्वो की प्रमुखता होती है।

शीत-युद्ध की समाप्ति के पश्चात् से भारत भी विश्व-बाज़ार और भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया मे समाहित होने लगा है जिसके परिणामस्वरूप इसके पूर्व निर्धारित लक्ष्यो की पूरी रूप-रेखा ही बदल गई है। येन-केन-प्रकारेण सार्वजनिक और सरकारी उधमो का निजीकरण, राष्ट्र-निर्माण के परिप्रेक्ष्य मे अनिवासी भारतीयो को प्रदान की गई दोहरी नागरिकता की सुविधा और राष्ट्रवाद तथा धर्मनिरपेक्षता के मुद्दे पुन नए कलेवर मे प्रकाश मे आने लगे हैं।

यदि भारतीय राष्ट्र को स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के परिप्रेक्ष्य मे समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया जाए तो बहुत कुछ स्पष्ट नजर आता है। स्वतन्त्रता के तुरन्त पश्चात् नेतृत्व द्वारा जब इसे समाजवादी गणतन्त्र के रूप मे स्थापित करने के प्रयास किए जा रहे थे उस समय साम्यवादी दलो ने नेहरू का साथ नही दिया। इस कारण इसकी जडे वाछित सबलता प्राप्त नही कर सकी जिसका परिणाम असन्तुलित वितरण और भ्रष्टाचार के प्रसार के रूप मे सामने आया। भारतीय राजनीति मे यह एक ऐतिहासिक भूल थी जिसको सुधारने के प्रयास नेतृत्व ने उस समय प्रारम्भ किये जब राजनीति मे सस्थाओ के प्रति यह प्रतिबद्धता शेष नही रही रही थी जो नेहरू युग मे थी। इस कारण असहमति की उपयोगिता को न सिर्फ नकारा गया बल्कि राष्ट्र-हित मे उसे एक बाधा के रूप मे भी देखा गया। आगे चलकर भारतीय प्रजातन्त्र मे असहमति और विरोध को जन-आन्दोलनो मे जगह मिली।

सन् 1977 के आम चुनाव इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योकि इनके माध्यम से सामाजिक शक्तियो का सम्पूर्ण तौर पर उभार हुआ। परन्तु यह यूरोप मे 18वी शताब्दी की परिवर्तन क्रान्ति की भाँति सामाजिक परिवर्तन को सम्पूर्णता प्रदान नही कर पाई जैसा कि इसके अगुआ समझने लगे थे, क्योकि नव-निर्मित सामाजिक, राजनीतिक शक्ति सरचना अपना पुराना और परम्परागत कलेवर नही छोड पाई। परिणामस्वरूप जो नए शक्ति-आभिजात्य बने वो विकास और आधुनिकता के तत्वो के प्रति आकर्षित न होकर बदले की भावना आधारित हो गए। उदाहरण स्वरूप मन्डल की राजनीति, जिसने समाज को फायदो के साथ-साथ नुकसान भी दिए, को लिया जा सकता है।

अस्सी के दशक मे राष्ट्र के केन्द्रीय राजनीतिक दलो ने अपने कार्यक्रम और लक्ष्य परिवर्तित कर उन राजनीतिक नीतियो और तत्वो का अनुसरण करने के प्रयास किए जो धर्माधारित और क्षेत्रीय मुद्दो पर केन्द्रित दलो के आधार थे। परिणामस्वरूप ऐसे दलो ने अपना केन्द्रीय स्वरूप और नागरिको के मध्य अपनी परम्परागत साख खो दी और उनके परम्परागत मतदाता, समर्थक क्रमश बिखर गए।

धार्मिक प्रवचनो का दूरदर्शन पर प्रसारण, मन्दिर-मस्जिद मुद्दे का उभार, उग्र-रथयात्रा आदि कुछ ऐसे ही नवीन बिन्दु थे जिन्होने राष्ट्र की सामाजिक तथा राजनीतिक दिशा ही मोड दी। फिर भी यदि पुन पचास के दशक के अन्तर्राष्ट्रीय दौर पर दृष्टिपात किया जाए तो यह प्रतीत होता है कि उस समय जब विश्व प्रत्येक स्थान पर दो हिस्सो मे विभाजित हो चुका था या हो रहा था और अमेरिका कट्टरपन्थ तथा नव-स्वतन्त्र राष्ट्रो मे तानाशाहो को प्राथमिक वरीयता प्रदान कर रहा था और सोवियत सघ ने इसके विरुद्ध रुख अपना कर विस्फोटक परिस्थितियाँ निर्मित कर रखी थी, वैसी परिस्थितियो मे भारतीय प्रजातन्त्र की जड़ो का मजबूती पकडे रहना आगामी पीढियो के लिए आशा की किरण से कम नही है। इक्कीसवी शताब्दी मे जहाँ भारत बाजारीकरण, सघवाद और नागरिक समाज के स्वस्थ लक्ष्यो की ओर अग्रसर हो सकता है, जनचेतना का भ्रान्त-स्वरूप इसमे बाधक है। इसके लिए नेतृत्व और इसकी नीतियो को जिम्मेदार माना जा सकता है। सम्भवत भारतीय राष्ट्र परम्परागत गणतान्त्रिक स्वरूप के स्थान पर 'कल्प' केन्द्रित और त्यागी, बलिदानी व्यक्तियो या ईकाइयो से नियन्त्रित रहा है और इनके पूर्वाभास अब सत्य होते प्रतीत हो रहे है। जैसे कि जब गाँधीजी से यह पूछा गया कि आने वाले भारत मे सबसे बड़ी समस्या क्या हो सकती है तो उनका उत्तर था कि "मुझे डर है कि आने वाले समाज मे मध्य वर्ग अपनी जड़े खोकर असहिष्णु और क्रूर न बन जाए और मात्र इस प्रवृत्ति के साथ जीने लग जाए कि दूसरो का अपने फायदे के लिए किस तरह प्रयोग करना है।" इसी प्रकार जब नेहरू से यह पूछा गया कि स्वतन्त्र भारत के बारे मे उनकी सबसे बड़ी चिन्ता क्या है तो उन्होने कहा कि "एक धार्मिक राष्ट्र मे धर्मनिरपेक्षता का अस्तित्व कैसे सुरक्षित रहेगा, यही सबसे बड़ी चिन्ता है।"

आज अगर देखा जाए तो मध्य-वर्ग अपनी परम्परागत भूमिकाएँ न सिर्फ त्याग और बदल रहा है बल्कि वह अपनी मूल थाती, जिसमे मानवीय मूल्य, आदर्शवादी सिद्धान्त, परस्पर सहयोग की भावना, सहनशीलता, एकता का मान आदि सम्मिलित थे, त्याग रहा है। इसी प्रकार धर्मनिरपेक्षता भी एक कठिन दौर से गुजर रही है। विज्ञापन-सस्कृति और ब्राण्डगमन भला कहाँ के उपयुक्त माध्यम हैं!

भारतीय जनमानस, जो विशेषकर ग्रामीण जनमानस है, वह आज भी त्याग, तपस्या और पुनर्जागरण को बाजार से अलग करके देखता है। इसका दिल जीतने के लिए परिवर्तन आवश्यक है और इसे सकारात्मक स्वरूप देने के लिए इतिहास और परम्पराओं से हमें स्वस्थ बिन्दु चिन्हित कर उनका नवीनीकरण करना होगा अन्यथा कभी-कभी विमुक्ति की कोई पहचान नहीं बन पाती।

9

सामाजिक आन्दोलनों का अधूरापन

लगभग बीस वर्षो पूर्व समाजविज्ञानी इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि विश्व मे अब सामाजिक एवं सामूहिक आन्दोलनो का होना सम्भव नही है। ऐसा इसलिए कि बदली हुई परिस्थितियो मे, विद्यमान पैराडाइम मे इसके अभिकरण लुप्तप्राय हो गये है क्योकि सिद्धान्तो से लेकर प्रैक्सिस तक (यथा मार्क्सवाद, गैर-मार्क्सवाद, प्रकार्यवाद आदि) पर विरोधाभासो तथा अव्यावहारिकता की इतनी परते चढ़ गयी कि ये कहना मुश्किल हो गया था कि आखिर सामूहिक प्रतिरोधो तथा सामाजिक आन्दोलनो के बिन्दु कौन से हैं? यदि ये बिन्दु पहचान मे आते भी है तो पुन एक जिज्ञासा उभर जाती है कि सदर्भित प्रतिरोधो तथा आन्दोलनो का प्रारम्भ कौन करेगा। निर्धनता, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, कुपोषण, रूग्णता, ऋणो के बोझ आदि को तत्कालीन मध्यम वर्ग ने अपनी नियति समझ कर इसे अपनी जटिल जीवन-शैली का एक अग ही बना लिया था क्योकि इन मुद्दो की पर्दे के पीछे की वास्तविकता उजागर होने के बाद इनके लिये और आड़ मे सक्रिय रहे, मरे और इतिहास बने लोगो की वास्तविकताएँ धुधली और विवादास्पद हो गयी थी और इस वातावरण मे सारे प्रयास निरर्थक, औचित्यहीन और षड्यन्त्रपूर्ण लगने लगे थे। इनके अनिश्चित और जटिल स्वरूप के कारण ही समाजशास्त्र मे उनके अनुसधान के प्रति गहरी रुचि पाई जाती है। लेकिन पूँजीवाद के साये मे प्रतिकारात्मक, प्रतिरोधात्मक और एक सीमा तक समान्तर व्यवस्थाओ के आलोक मे आन्दोलनो की जो जमीन तैयार होती पहले दिख रही थी वो 1970-72

तक लगभग समाप्त हो गयी। सम्भवत इसी को ध्यान मे रखते हुये वार्लस्टीन ने राष्ट्र-राज्य की सीमाओ मे तथा साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी क्लासिकल मार्क्सवाद की पराजय के कारण आन्दोलनो की सम्भावनाओ की समाप्ति की घोषणा कर दी थी। उनके अनुसार विश्व व्यवस्था के सिद्धान्त मे विश्लेषण के सन्दर्भ मे उद्धत लघु तरगो एव वृहद तरगो तथा सीमान्त एव केन्द्रीय क्षेत्रो के बीच के अन्तर भी अब सुस्पष्ट हो चले हैं। वस्तुत उनकी इस सोच मे निर्भरता-सिद्धान्त के प्रभाव दृष्टिगोचर होते है। निर्भरता-सिद्धान्त के अनुसार विकसित एव विकासशील देशो मे परस्पर अन्योन्याश्रयी सम्बन्ध है भले ही यह पारस्परिक अन्योन्याश्रयिता असतुलित ही क्यो न हो। विकसित एव विकासशील राष्ट्रो के मध्य कार्यशील यह अन्योन्याश्रयिता उन परिस्थितियो का निर्माण नही होने देती जिनमे आन्दोलन उभर सके। ऐसी स्थिति मे सीमान्त और केन्द्रीय परिक्षेत्रो मे विभाजित वैश्विक व्यवस्था पूर्ववत बनी रहेगी जिसमे भले ही राष्ट्र-राज्य की भूमिकाएँ न बदले लेकिन समय-समय पर इनकी परिणति केन्द्रीय और सीमान्त परिक्षेत्र के पैमाने पर मापी जा सकेगी।

विश्व व्यवस्था की यह तस्वीर सन् 1989 मे तब एकदम बदल गयी जब बर्लिन से बीजिंग तक सप्ताहो की अवधि मे नागरिक अपनी सरकारो के विरुद्ध सड़को पर उतर आये और इसके परिणामस्वरूप दो वर्षो के भीतर ही कई सरकारो के पतन के साथ सन् 1991 मे साम्यवादी विश्व के मानचित्र मे आमूल-चूल परिवर्तन हो गये। यह परिवर्तन एक विस्मयकारी परिवर्तन था जिसके बाद न्यूनाधिक रूप से सम्पूर्ण विश्व एक एकीकृत पूँजीवादी व्यवस्था के प्रभाव मे आ गया। इसके पश्चात् जितने भी आन्दोलन विषयक चिन्तको ने इस परिवर्तन को प्रकृति एव परिणाम के क्रम मे विश्लेषित करना चाहा जिनमे टैरो, एडरसन बैल, ब्लाक आदि प्रमुख थे, ने आने वाले दशको को "विपत्तियो के दौर" की सज्ञा दी। प्रारम्भ मे ये विचारक आशावादी थे जिनका अनुमान था कि नये आन्दोलन आन्तरिक रूप से सजातीयता तथा बाह्य रूप से अन्तर्राष्ट्रीयता के तत्वो के विरुद्ध होगे। लेकिन कुछ वर्षो के बाद जब विश्व एकध्रुवीय बन गया तथा इसकी बागडोर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक के माध्यम से अमेरिका के नव-रूढ़िवादी वर्ग के हाथो मे आ गयी तब इनके सामने वैचारिक

निराशा का घटाटोप छा गया। बदली हुई वैचारिक एव व्यावहारिक परिस्थितियो मे आन्दोलन और समाज को क्षेत्रीय ध्रुवीकरण एव अन्तराष्ट्रीय असमानता के दृष्टिकोण से देखना विश्लेषित करना प्रारम्भ कर दिया। इसके पीछे क्षेत्राधारित ध्रुवीकरण के विश्व मे अपने-अपने राष्ट्रो की अस्मिता और वर्चस्व के तत्वो को आन्दोलन की वैचारिकी और एक सीमा तक प्रैक्टिस के माध्यम से बनाये रखने का उद्देश्य भी था। लेकिन इस नयी डिजाइन मे आन्दोलनो के परम्परागत मुद्दे जैसे निर्धनता, अभाव, भ्रष्टाचार आदि सिरे से इस तरह गायब हो गये जैसे कि कभी इनका अस्तित्व ही नही था और न ही अब है। जबकि पूर्व मे इन्ही के सहारे या इन्ही के आधार पर सामूहिक विरोधो-प्रतिरोधो की पृष्ठभूमि के निर्माण को तय माना गया था। लेकिन विडम्बना यह है कि आज विभिन्न दृष्टिकोणो से स्वीकार्य रूप से इन्हे वर्तमान व्यवस्था के अनिवार्य और स्वाभाविक उत्पादो के रूप मे मान लिया गया है और अब इन पर अपनी ऊर्जा एव समय खर्च करना लोगो को निरर्थक कवायद लगने लगी है। इन मुद्दो को किनारे करने के बाद पूँजीवादी व्यवस्था इस निष्कर्ष पर पहुँची है कि बाजार की संप्रभुता वाले इस युग मे समाज और व्यक्ति भले ही राष्ट्र-राज्य की सीमाओ मे है, उन्हे भौतिकता और सपनो के कुछ विशेष पैकेज देकर वैचारिकी से दूर रखा जा सकता है और ऐसे मे आन्दोलनो का कोई प्रश्न ही नही उठता। इसमे अन्तर्निहित उद्देश्य एक दूसरा विश्व, एक दूसरी व्यवस्था बनाना है।

ऐसा सम्भव भी हो सकता था यदि आधुनिकीकरण की प्रक्रिया अवरूद्ध नही हुई होती तथा प्रत्यक्षवाद के प्रारम्भ के बाद कई दशको की भाँति आगे भी विज्ञान और तर्क के आधार पर चीजो और घटनाओं को जानने-समझने और उनका विश्लेषण करने के प्रयास जारी रखे गये होते। आधुनिकीकरण की असफलता के कारण जो शताब्दी मिथको, विश्वासो को मिटाने पर तुली हुई थी उसी मे कुछ दशको के पश्चात् इनका नये सिरे से उभार हो गया। आज मिथक और धर्म सम्बन्धित तत्व न सिर्फ तर्क एव विज्ञान के समक्ष नवीन चुनौतियाँ प्रस्तुत करने लगे हैं बल्कि पूँजीवादी व्यवस्था मे उत्पन्न वैचारिक शून्यता के वातावरण मे जनमानस और जीवन-शैली मे अपनी जड़े गहरी जमा चुके हैं। लेकिन इसके बावजूद नये सिरे से इन सबसे परे हटकर 90 के

दशक के बाद से कुछ नये आन्दोलनों का नये सिरे से उभार देखने मे आ रहा है। उदाहरण के तौर पर क्षेत्रवाद, सम्प्रदायवाद, सजातीयतावाद तथा इस पर आधारित राष्ट्रवादी आन्दोलन कुछ ऐसे ही आन्दोलन हैं। भला ये क्यों और कैसे उभर रहे हैं तब जबकि आन्दोलनों के युग की समाप्ति की बौद्धिक और वैचारिक घोषणाएँ हो चुकी हैं?

टैरो के अनुसार नये आन्दोलनों के केन्द्र मे राजनीतिक अवसरों के निर्माण के तत्व निहित हैं। राजनीतिक अवसरवाद मे आन्दोलन के मुद्दो का चयन इस बात से होता है कि कौन सा मुद्दा राजनीतिक शक्ति के निकट ले जाने मे कितना सहायक और सक्षम सिद्ध हो सकता है। यही कारण है कि आगे चलकर छात्र आन्दोलनों का स्वरूप परिवर्तित हो गया और उनकी तीव्रता, सघनता एव प्रासंगिकता घटी क्योंकि वे अपनी प्रकृति से अवसरवाद की पूर्ति नही कर सके। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि राजनीतिक अवसरवाद से तात्पर्य सिर्फ राजनीतिक शक्ति की प्राप्ति से नहीं है बल्कि इसमे स्रोतो संसाधनो, तकनीक पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना और बाजार के वर्चस्व वाले इस युग मे येन-केन प्रकारेण अपनी क्रयशक्ति को बढ़ाना भी है। इसलिए नये आन्दोलनो के उभार को परम्परागत आन्दोलनो के पैमाने से नही मापा जा सकता है क्योंकि कभी ये धार्मिक कट्टरता के आवरण मे लिपटकर उभरते हैं तो कभी असुरक्षा और संचित अनिश्चितताओं से उत्पन्न हुई परिस्थितियो मे उत्पन्न होते हैं। यही कारण है कि आने वाले दशक मे आन्दोलनो के मुद्दे जहाँ गायब हो रहेगे, वही उनके अभिकरणो का अभी से उभरते जाना एक विचित्र सामाजिक परिस्थिति उत्पन्न कर रहा है। 30 वर्षों पूर्व स्थिति इसके विपरीत थी जब आन्दोलनो हेतु मुद्दे तो थे लेकिन उनके अभिकरणो का अस्तित्व नही था। इसीलिए उत्पन्न होने वाली ऊहापोह और जटिलताओं के परिप्रेक्ष्य मे आगामी दशको को विपत्तियो का युग कहा जा रहा है क्योंकि शीतयुद्ध के दौर मे न सिर्फ मध्यम वर्ग को बल्कि निम्न वर्ग और पिछड़े हुए विश्व के देशो ने भी भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया के द्वारा पूर्व के (और अभी भी विद्यमान) सशक्त मुद्दो को खारिज कर प्रशासन, समायोजन और बाजारी तत्वो को बढ़ावा देकर और इन्हे तथाकथित अभिकरणों के रूप मे प्रस्तुत कर आन्दोलनों को

राज्यबन्दी बना दिया है। इससे हर जाति, वर्ग, धर्म के लोग अभिकरणो मे परिवर्तित नजर आने लगे हैं। राजनीतिक अवसरवादिता की मृगतृष्णा उन्हे बेचैन और उद्वेलित तो कर देती है लेकिन उनके पास सशक्त मुद्दो एवं सुनिश्चित लक्ष्यो के अभाव के कारण वे शून्य मे अतिचालको की तरह भटक कर जा रहे है। इसलिए आज के संरचित अनिश्चितताओ के युग मे आन्दोलनो और इनकी उपलब्धियो के सन्दर्भ मे वीराने मे उभरती सांय-साय की आवाज के अलावा और कुछ भी नही प्रतीत होता। सांय-साय की आवाज़ सुनायी देती है, डराती भी है लेकिन इसका स्त्रोत कही दिखायी नही देता और न ही इसका उद्देश्य पता चलता है। वकील इशा —

ये अजीब माजरा है कि बरोजे ईद कुर्बा
वही जिबह भी कर रहे हैं, वही ले सवाब उल्टा।

10

समय और समाज में सुव्यवस्था की मांग

प्रारम्भ से ही मनुष्य की यह प्रकृति रही है कि "जो प्राप्त है", उससे "कितना और" बनाया जाए। प्रकृति प्रदत्त है और अब तक मनुष्य ने जो कुछ बनाया है, वह संस्कृति है, चाहे वो भौतिक हो या अभौतिक। प्रत्यक्षत संस्कृति निर्माण की यह प्रक्रिया हमे मनुष्य की इच्छा का परिणाम प्रतीत होती है लेकिन निर्माण की इस प्रक्रिया और मनुष्य की क्षमताओ के पारस्परिक सम्बन्धो और तालमेल के सन्दर्भ मे कुछ जिज्ञासाएँ और कुछ प्रश्न भी उभरते हैं। उदाहरण के तौर पर क्या मनुष्य के पास मुक्तेक्षा (फ्री विल) है या सब कुछ पूर्व निर्धारित है। अगर मुक्तेक्षा है तो कर्म करना सार्थक होने के साथ आशाओ से परिपूर्ण प्रतीत होता है। अगर मुक्तेक्षा नही है तो फिर ऐसी स्थिति मे मनुष्य के पास अपनी कोई आधिकारिक पसन्द नही है और यदि यह नही है तो फिर सब कुछ पूर्व निर्धारित है। यदि सब कुछ पूर्व निर्धारित है तो भला फिर कर्म की सार्थकता क्या है और कोई कर्म करे तो क्यो करे। अपनी मौलिक प्रकृति के आधार पर प्रत्येक धर्म एक दार्शनिक धर्म है। आज के परिवेश मे यह एक विडम्बना प्रतीत होती है कि इस प्रश्न को सुलझाने की दिशा मे धर्म की अपेक्षा वैज्ञानिक सोच अधिक तत्पर दिखती है, हालाँकि वैज्ञानिक सोच के साथ-साथ कर्म और दर्शन के विचारकों ने भी अपने अपने ढ़ग से इस पर विचार करने के प्रयास किए हैं।

भारतीय दर्शन ने गीता का सहारा लेकर तार्किक रूप से यह सिद्ध कर दिया है कि इस विश्व का न कोई आदि है और न ही इसके अन्त का पता है। इसलिए

यह महत्वपूर्ण है कि जो कुछ दृश्य है, वह वर्तमान है। जीवन और मृत्यु के रूप मे मनुष्य को वर्तमान के दो सिरे मिलते है और इन्ही के बीच भूत-भविष्य की चिन्ता से दूर रह कर कर्म करना होता है। मनुष्य के विकास के साथ-साथ ये सिराएँ क्रमश व्यक्ति-आधारित विश्व की सीमाएँ बनती जाती हैं। 16वी से 18वी शताब्दी मे यूरोपियन समाज ने चितन और पुनर्जागरण की एक लम्बी प्रक्रिया के बाद एक नए समाज की सकल्पना विकसित की और 19वी शताब्दी तक इसकी रूपरेखा तैयार हो चुकी थी। इस नए समाज मे जितनी भी संस्थाओ का निर्माण किया गया उसमे व्यक्ति की मुक्तेक्षा के बिम्ब प्रतिबिम्बित होते है। इन संस्थाओ ने प्रतीकात्मक रूप से मनुष्य की मुक्तेक्षा के सिरो के पुनर्निर्धारण मे महत्वपूर्ण भूमिकाएँ निभायी। इन सिरो और सीमाओ का अतिक्रमण करना अनैतिक, अवाछनीय, अनिष्टकारी और अधर्म माना गया। इस सन्दर्भ मे यह महत्वपूर्ण है कि मनुष्य की मुक्तेक्षा और पसन्द के मध्य निर्मित समाज के पीछे पूँजीवाद का चलन और इसके प्रभाव थे और इसके परिणाम हमे बाद मे नौकरशाही, राष्ट्र-राज्य, सुव्यवस्थित सेना, पागलखाने, विद्यालय, सुधार-गृह, जेल, न्यायपालिका, इकाई भावनाओ तथा मानसिकताओ के विकास के रूप मे देखने को मिलता है। इनके द्वारा अपने-अपने परिप्रेक्ष्य मे मनुष्य की स्वतन्त्रता की सीमाएँ परिभाषित और निर्धारित की गई थी। यह एक विडम्बना सी प्रतीत होती है कि जहाँ एक ओर विज्ञान और पूँजीवाद ने मिलकर स्वतन्त्रता की निर्धारित सीमाओ को बढाना चाहा, वही दूसरी ओर नए सिरे से अपने सन्दर्भ मे नई सीमाएँ भी गढ़ना चाहा। पूँजीवाद की नित्य ऊँची होती उड़ान के साथ-साथ मनुष्य उसके अधीन होने लगा जिसके परिणामस्वरूप विज्ञान से विज्ञानवाद का उभार हुआ और इस विज्ञानवाद ने मानव को लौह-पिंजरो मे कैद कर दिया। जिस मुक्ति की बात मार्क्स किया करते थे उसी को वेबर ने लौह-पिंजर की सज्ञा दी है, जिसकी तीलियाँ पूँजीवाद और विज्ञानवाद की हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि पूँजीवाद की अब तक की यात्रा मे "समाजी" के निर्माण की प्रक्रिया मे मनुष्य की पसन्द की उतनी ही मात्रा मिली जितनी कि सस्थाओ की सीमा मे थी। यह और बात है कि माइकल फूको और उनके अनुयायी इस "समाजी" और सस्थाओ के निर्माण को वर्चस्व शक्ति का एक ...

मानते थे। लेकिन फिर भी अपनी सीमाओ के बावजूद निर्माण सहमति और सस्कृतियो के मूल्याकन के साथ सम्पूर्ण मनुष्यता को समेटने का प्रयास तो था ही। लेकिन जब लगभग एक शताब्दी के बाद ये निर्माण विज्ञान की सुविधाओ तथा सूचना तकनीकी से सम्बन्धित ज्ञान की क्रान्ति पर प्रश्न चिन्ह लगा रहे है तो एक बार फिर यह प्रश्न चमकने लगा है कि क्या मुक्तेक्षा है ही नही मनुष्य के पास! पश्च-पूँजीवाद ने न सिर्फ सस्थाओ को तोड दिया है (जिसे हम समाजी का बिखराव कहते है) बल्कि इसने व्यक्ति को भी लाचार और विवश कर दिया है। यूरोप के आधुनिक निर्माण हेतु जो 500 वर्ष खर्च किए गए थे आज सिसिफस के मिथक की तरह लगने लगा है। इसके विपरीत पौर्वात्य समाजो, विशेषत भारतीय समाज का स्वरूप अभी भी तुलनात्मक रूप से स्थिर दिखता है क्योकि इन समाजो की नीव सुदीर्घ दर्शन और ज्ञान की परम्पराओ पर आधारित है। यह एक वास्तविकता है कि मुक्तेक्षा और पसन्द की बहस ने अब तक न सिर्फ दुनिया को बॉटा है बल्कि बौद्धिकता के द्वन्द्व को एक नकारात्मकता भी प्रदान की है। विश्व फिर एक बार जगलराज के उस मुहाने पर खड़ा प्रतीत होता है जहाँ पुराना समाज और सस्थाएँ तो क्रमश ध्वस्त हो रही है लेकिन नए और अद्यतन विकल्प प्रस्तुत नही किए जा रहे है। ऐसी बात नही है कि 19वी तथा 20वी शताब्दी मे, जब यूरोप मे आधुनिकता अपने चरम पर थी, तो ऐसे प्रश्न नही उभरे थे। परन्तु इन उलझनो को चितन और साहित्य मे आधुनिकता के सम्मिलन से काफी हद तक दूर करने के सफल प्रयास किए गए थे। उदाहरण के तौर पर 1952 मे हेमिग्वे के बहुचर्चित और लोकप्रिय उपन्यास "ओल्ड मैन एड सी" की इस उद्घोषणा कि "व्यक्ति टूट सकता है लेकिन हार नही सकता" ने मानव को जीवन के नए पहलू को आत्मसात करने का जीवट प्रदान किया। बूढ़े व्यक्ति ने समुन्दर की सीमाओ का अतिक्रमण कर अपनी क्षमता, शक्ति और चातुर्य से व्हेल को पकड़ तो लिया लेकिन तट तक वह सिर्फ उसका ककाल ही ला पाया क्योकि रास्ते मे शार्क व्हेल के शरीर का सारा मास खा गई थी। सीमाओ मे रहने वाला जीवन ही एक सफल जीवन होता है। मनुष्य की मुक्तेक्षा के बारे मे जब गाधी जी से पूछा गया तो उनका उत्तर था कि "मनुष्य के पास उतनी ही मुक्तेक्षा है जितनी कि खूँटे से बधी बकरी की रस्सी से

जमीन पर निर्मित होती परिधि।" इसी तरह पण्डित नेहरू ने इसे समझाते हुए इसे ताश के पत्तो की सज्ञा दी—"ताश के गिने चुने पत्तो के रूप मे हमे नियति मिली है और हमारा कर्म ये है कि इसे अपनी सम्पूर्ण क्षमता के साथ सर्वोत्तम रूप से खेले।"

कहने का तात्पर्य यह कि पश्च-पूँजीवाद मे वो मान्यताएँ जिन्होने आधुनिकता को जकड कर रखा था, आज सस्थाओ का विध्वन्स कर स्वय अपनी आधार शिलाओ पर ही प्रश्न-चिन्ह लगा रही है। इसका परिणाम यह हुआ है कि आज जीवन की सार्थकता और इसमे सुख एव प्रसन्नता पण्य की भाँति पैकेजो मे सिमट गई हैं। ये पैकेज बाजार मे उपलब्ध हैं। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया मे जिस सहमति के आधार पर यह स्वीकार कर लिया गया था कि विकास के प्रत्येक चरण और दशा मे सन्दर्भ और केन्द्रीयता आवश्यक है तथा यह कि जो समूह या प्रजातियॉ विकास के पथ पर पीछे रह गई है वो अतत लुप्त हो जायेगी। लेकिन विडम्बनात्मक ढग से पश्च-पूँजीवाद ने ऐसे समूहो और प्रजातियो को अपनी मुख्यधारा मे लाकर बलपूर्वक खड़ा तो कर दिया है लेकिन इसका दूसरा पहलू इस रूप मे सामने आता है कि क्षमताविहीन ये समूह और प्रजातियॉं पिछड़ कर विकसितो के विकास का हेतु मात्र बनकर रह जाती है। इसलिए जिन सस्थाओ की सीमाएँ पहले निर्धारित की गयी थी वो टूट जाती हैं और अपने सम्बन्धितो और सदर्भितो को निराशा और बिखराव दे जाती है। जब कुत्सित रूप से "मार्केट फंडामेटलिज्म" की थीसिस द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है कि भ्रष्टाचार एक समस्या न होकर एक बाजारी मुद्दा है तब यह पुराने और परम्परागत समाजो, जिनकी जड़े नैतिकता मे गहराई तक बैठी है, को तोड़-मरोड़ कर बाजार मे औने-पौने दामो मे नीलाम करने का षड्यन्त्र होता है। इसलिए मनुष्यता की स्थिरता तथा खुशहाली के लिए निराधार होती जा रही जीवन शैली को फिर से सस्थात्मक करने की आवश्यकता है क्योकि समय और समाज का सीमाबद्ध होना सदैव ही सुव्यवस्था का प्रतिपादन करता है।

द्वितीय भाग

निबन्ध-संग्रह के द्वितीय भाग मे ऐसे मुद्दो को सम्मिलित किया गया है जो सामाजिक सरचनाओ पर ही प्रश्न चिन्ह लगाते है। भारत-पाकिस्तान के मध्य विवाद के बिन्दुओ मे कश्मीर की केन्द्रियता इस भाग का मुख्य सन्दर्भ है जिनको विभिन्न लेखो के सहारे एक नए समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के समिक्षित रखने के प्रयास किए गए है।

11

पड़ोस का प्रजातन्त्र

यह और बात है कि पाकिस्तान के अस्तित्व मे आने के बाद कायदे आजम जिन्ना ने राष्ट्र के नाम अपने पहले ही सम्बोधन मे पाकिस्तान को एक प्रजातान्त्रिक और धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र की सज्ञा दी थी और इसे इसी रूप मे विकसित करने के वादे-इरादे व्यक्त किये थे। लेकिन उनकी असामयिक मृत्यु के कारण पाकिस्तान के सन्दर्भ मे उनका यह सपना कभी भी वास्तविकता के धरातल को छू नही पाया। तब से अब तक पाकिस्तान प्रजातन्त्र और सैन्य-शासन के मिश्रित अनुभवो के बीच पाँच दशको की लम्बी यात्रा कर चुका है। जिन्ना की मृत्यु के बाद से ही वहाँ के नये नेतृत्व को भारत के वृहद आकार, परिपक्व नेतृत्व और विस्तृत सस्थाओ, जिनमे सक्षम, कार्यशील और व्यापक नौकरशाही एव विकास के पथ पर अग्रसर विशाल मध्यवर्ग था, के रूप मे विकास के नए आयाम दिखे। पाकिस्तान के इस स्वनिर्मित और स्वकल्पित खतरे के परिणामस्वरूप पाकिस्तान अपनी अस्मिता भारत की परछाइयो से मुक्ति के स्थान पर भारत से घृणा करने से निर्मित वातावरण मे ढूँढ़ने लगा यह उसके भ्रामक राष्ट्रवाद की आत्मघाती बुनियाद का पहला पत्थर था जिसने आगे चलकर शीघ्र ही पाकिस्तान को पाकिस्तानी फौज और उसके हुक्मरानो के हाथो की कठपुतली बना दिया। यही कारण है कि सेना का जो वर्चस्व पाकिस्तान मे प्रारम्भ हुआ, वैसा भारत में उदाहरण के रूप मे भी देखने को नही मिलता क्योकि पाकिस्तान मे जहाँ एक ओर राजनीतिक संस्कृति अपनी जड़े नही जमा पाई वही दूसरी ओर वहाँ के सामन्ती अभिजनो ने

फौजी वर्चस्व और इसके माध्यम से पाकिस्तान की पहचान को कायम रखने के तानाशाही बिन्दु तलाशे जबकि भारत मे स्थितियाँ इसके बिल्कुल विपरीत निर्मित हुई। परिणामत उन तानाशाही बिन्दुओ ने वहाँ प्रजातन्त्र के मार्ग मे भयानक अवरोध खड़े करने आरम्भ कर दिए और यह प्रक्रिया आज तक जारी है। पाकिस्तान-निर्माण के प्रारम्भिक वर्षो के बाद वहाँ राजनीतिक हत्याओ के जो दौर शुरू हुए, उन्होने पचास के दशक के मध्य से पाकिस्तान के फौज के वर्चस्व का व्यापक आधार स्थापित किया जो आज तक प्रभावी रूप मे कायम दिखता है।

यही कारण है कि आज पाकिस्तान का बुद्धिजीवी और मध्यम वर्ग मायूस और हताश होता जा रहा है। आज जिस प्रकार के विचार और धारणाएँ पाकिस्तान के सूचनातन्त्र मे देखने को मिल रही है उनमे से अधिकाश प्रजातन्त्र के क्षय पर केन्द्रित है। इनका मानना है कि सन् 1956 मे एक ऐसा सुनहरा अवसर आया था जब पाकिस्तान का सविधान बना था लेकिन सयुक्त राज्य अमेरिका के प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभावो के परिणामस्वरूप यह व्यवहारत कभी लागू ही नही हो पाया। इनका यह भी मानना है कि अमेरिका ने शीतयुद्ध के दौर मे 'व्यक्ति' आधारित शासन प्रणालियो को ज्यादा महत्व दिया न कि सस्थाओ पर आधारित प्रजातन्त्र के अन्तर्राष्ट्रीय विकास को। इसकी व्यावहारिक परिणति पाकिस्तान के सन्दर्भ मे जनरल अयूब द्वारा सत्ता को हथियाये जाने के रूप मे दिखी। तत्कालीन पाकिस्तान मे विपक्ष के नेता अब्दुल कयूम खान को रातो-रात नजरबन्द करके अयूब और सिकन्दर के पारस्परिक सहयोग से प्रजातन्त्र के पैरो मे तानाशाही की बेड़ियाँ डाल दी गयी। नेपथ्य मे अमेरिका की भूमिका से किसी ने इन्कार नही किया बल्कि जानकारो का तो यहाँ तक मानना है कि अमेरिकी शासन और सेना मे इस बात को लेकर गम्भीर मतभेद थे कि पाकिस्तान की बागडोर किसके हाथ मे दी जाए। अमेरिकी प्रशासन नागरिक नेता सिकन्दर को तो अमेरिकी सेना जनरल अयूब को अपनी-अपनी प्राथमिकता दे रहे थे। लेकिन शीतयुद्ध की भयावह और सदेहास्पद परिस्थितियो के कारण अन्तत जनरल अयूब सत्तासीन हुए पाकिस्तान मे। तब से अब तक पाकिस्तान मे कई बार सरकारे बदली। सरकारो के स्वरूप बदले और 70 के दशक मे पाकिस्तान टूट भी गया लेकिन

सेना का रवैया और सेना के वर्चस्व मे कोई कमी नही आई। पाकिस्तान विभाजन के बाद भुट्टो ने एक नया सशोधित सविधान बनाने के प्रयास भी किए लेकिन सेना के हस्तक्षेप ने इसे मात्र कागज के पन्नो तक ही सीमित रखा। हाल की घटनाएँ, जिनके प्रभाव मे पाकिस्तान मे 'नियुक्ति' आधारित प्रजातन्त्र का नया आयाम उभर कर सामने आया है, मे निर्वाचित पाकिस्तानी प्रधानमन्त्री नवाज़ शरीफ को आराम से पदच्युत कर मुशर्रफ ने सत्ता पर अपना क़ब्ज़ा जमा लिया। प्रारम्भ मे इसे वहाँ के मध्य वर्ग और बौद्धिको ने खामोशी से अपना समर्थन दिया। इसके पीछे सम्भवत मुशर्रफ की अफगानिस्तान नीति का आधार था जिसे मुल्लाओ और कट्टरपन्थियो ने भी अपना समर्थन प्रारम्भ मे दिया था। साथ ही इनके पीछे उनके द्वारा दिए गए लोकलुभावन भाषण का क्षणिक सम्मोहन भी था जिसमे उन्होने पाकिस्तान को एक भ्रष्टाचार मुक्त एक अद्भुत प्रजातन्त्र प्रदान करने का वायदा किया था। इसके परिणामस्वरूप मुशर्रफ कट्टरपन्थी और आधुनिक दोनो ही श्रेणियो के चहेते बन गए थे। लेकिन बाद मे बदलती परिस्थितियो और विशेषकर 11 सितम्बर 2001 के बाद की घटनाओ के बाद निर्मित हुई विश्व परिस्थितियो ने उन्हे न घर का रखा न घाट का। जहाँ मुल्लाओ और जमायते इस्लामियो ने यू मोड़ लेकर उसे अमेरिका का काफिर पिट्ठू घोषित कर दिया, वही बुद्धिजीवी और मध्य मार्गी लोग उनके 'रोड-मैप' को सन्देह की दृष्टि से देखने लगे है। इनका मानना है कि अमेरिका जहाँ इराक और अफगानिस्तान मे प्रजातन्त्र की पुनर्नियुक्ति के लिए बेचैन हो रहा है, वही वह अपने हित साधने की लालच मे मुशर्रफ के मामले मे खामोश है। आइए अब यह देखने का प्रयास करते हैं कि मुशर्रफ का रोड-मैप प्रजातन्त्र के सन्दर्भ मे क्या है।

बदली हुई परिस्थितियो मे मुशर्रफ पाकिस्तान मे स्वय को इतना असुरक्षित मान रहे हैं कि वो किसी भी तरह सत्ता से हटना नही चाहते हैं। अपनी सत्ता को बनाए रखने के लिए जाहिर तौर पर कई तरह के दाँव-पेच भी अपना रहे हैं। एक ओर साकेतिक रूप से उन्होने पाकिस्तान की दो प्रमुख राजनीतिक पार्टियो 'पीपुल्स पार्टी' और 'मुस्लिम लीग' को मुल्क बदर कर रखा है तो दूसरी ओर अपने विश्वासपात्रो और सहयोगी जनरलो के माध्यम से एक नई पार्टी कौमी लीग का निर्माण कर चुनाव

के मैदान मे उतार दिया है। 'कौमी लीग' फूट डालो और शासन करो की नीति के सहारे 'मुस्लिम लीग' और 'पीपुल्स पार्टी' मे कोई समझौता न हो सके, इस प्रयास मे जी जान से जुड़ी हुई हैं। इस प्रयास मे 72 राजनीतिक पार्टियॉ अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग कर रही है जो पाकिस्तान के 12 करोड़ मतदाताओ को लुभाने मे लग गई है। मुशर्रफ ने अपने भविष्य को सुरक्षित रखने की गरज से पाकिस्तान के सविधान मे नए सशोधन (आर्टिकल 58 2 बी) के माध्यम से राष्ट्रपति द्वारा चयनित प्रधानमन्त्री को बर्खास्त करने का अपना अधिकार सुनिश्चित कर लिया है और इन सरचनाओ मे सेना की भूमिका को राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद् के माध्यम से और भी शक्तिशाली और वैधानिक बना दिया है। अब पाकिस्तान मे राष्ट्रीय सत्ता की सरचना पार्लियामेन्ट के चुने हुए सदस्यो, राष्ट्रपति (जो कि अब सैन्य प्रमुख भी हैं) और राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद् मे निहित होगी। राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद् मे हालॉकि सेना के जनरलो के अलावा विपक्ष के नेता और गवर्नरो को भी शामिल किया गया है लेकिन मुख्यत और व्यवहारत इसकी लगाम सेना के प्रतिनिधियो के हाथ मे ही है। इस परिप्रेक्ष्य मे भविष्य मे यदि पाकिस्तानी पार्लियामेन्ट मुशर्रफ की सत्ता को चुनौती देती प्रतीत होगी तो राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद् का सहारा लेकर 'राष्ट्र हित' मे मुशर्रफ पार्लियामेन्ट और सरकार को बर्खास्त कर देगे ताकि नए सिरे से फिर वो पाकिस्तान मे एक अद्भुत प्रजातन्त्र लाने का प्रयास कर सके। इसे मुशर्रफ स्वय डेमोक्रेसी की सज्ञा देते है जो व्यवहारत अयूब के नियन्त्रित प्रजातन्त्र से भी एक कदम आगे है। वस्तुत यह प्रत्येक दृष्टिकोण से किसी भी प्रकार के प्रजातन्त्र की जीवन्तता के लिए अत्यन्त ही खतरनाक है। यही कारण है कि पाकिस्तान के बुद्धिजीवियो और मध्यवर्ग मे पाकिस्तान के भविष्य के सन्दर्भ मे एक खौफ और मायूसी का वातावरण बनने लगा है –– बिक भी गए अमेरिका के हाथो और दाम भी न आए। इस प्रकार के प्रयोग को मुशर्रफ एक नया प्रयोग मानते है। इनकी दृष्टि मे अल-कायदा जो पाकिस्तान मे बहुत हद तक अपनी जड़े तो जमाए हुए है, वो भी दुश्मन है क्योकि अमेरिका अल-कायदा का अन्तर्राष्ट्रीय दुश्मन है और ऐसे वातावरण मे जब अमेरिका ने उसे दुष्टता की धुरी चिन्हित कर दी है, पाकिस्तान तमाम गतिरोधो के बावजूद उसके सहयोगी मित्र की भूमिका का निर्वाह

करने मे लगा है। परन्तु वास्तव मे पाकिस्तान अमेरिका का सहयोगी मित्र राष्ट्र नही है बल्कि मुशर्रफ की दोस्ती पाकिस्तान को दुष्टता की धुरी से अलग कर देती हैं। स्वय मुशर्रफ के दोस्तो का कहना है कि चूँकि मुशर्रफ ने अपना बचपन तुर्की मे गुज़ारा है इसलिए उनकी अनुमानित मान्यता है कि सेना को भूमिका देकर ही राजनीति से अलग रखा जा सकता है। वस्तुत: पाकिस्तान अपने अतीत, इतिहास और सस्कृति से अलग नही हो पा रहा है। इसलिए बदलते परिवेश मे जहाँ जाने-माने बुद्धिजीवियो का कहना था कि दुनिया मे प्रजातन्त्र और बढ़ेगा (फूकोयामा) और इस प्रजातन्त्र की भूमिका से दुनिया मे अनिश्चितताओ मे बढ़ोतरी के बावजूद शान्ति की प्रक्रिया कायम रहेगी, वही पाकिस्तान 55 वर्षो बाद भी सेना के अलावा कोई दूसरा सक्षम सहारा नही ढूँढ पाया है। अब नेहरू का कथन और सुदृढ़ नजर आता है जो उन्होने पाकिस्तान के निर्माण के बाद कहा था कि अगर भारत का एक हिस्सा कट भी गया है तब भी भारत, भारत ही है और आज यह और भी महत्वपूर्ण और प्रासगिक लगने लगा है तथा यह प्रदर्शित कर रहा है कि किसी देश के निर्माण मे सस्कृति और इतिहास की कितनी सशक्त भूमिका होती है। हमारे देश मे हजार कमियो के बावजूद इसके इतिहास और सस्कृति मे इतना दम है कि आने वाली चुनौतियो का मुकाबला करने मे यह सम्पूर्ण सक्षम लगता है, लेकिन पाकिस्तान इस सन्दर्भ मे किसी भी नई सस्था के गठन और उसे मजबूती प्रदान करने मे अपने अन्तर्विरोधी और गतिरोधो के कारण अक्षम प्रतीत होता है।

12

विकास का तिलिस्म

फल की इच्छा तुरन्त न करने की प्रवृत्ति व्यक्ति को उसकी सीमाओ और अक्षमताओ का भी ज्ञान कराती रहती है। परिणामस्वरूप सज्ञान कर्म असन्तोष प्रदान करता है और सही अर्थो मे यही सच का पारितोषिक है। यह वही सच है जो प्रकृति मे हमे बच्चो की मुस्कान के रूप मे मिला है और व्यक्ति चाहे तो यही मुस्कान हमारे अधरो पर जीवन पर्यन्त बनी रह सकती है।

19 वी शताब्दी के आसपास यूरोप मे यह एक प्रचलित मुहावरा था कि 'झूठ बोलने का अधिकार सिर्फ वकीलो को ही है।' सामान्य परिस्थितियो मे सभ्य समाज में झूठ बोलना निदनीय माना जाता रहा है। मानव सभ्यता की आज तक की यात्रा मे झूठ बोलना छल-कपट से भरा हुआ व्यवहार के रूप मे प्रतिष्ठित रहा है और आपातकाल को छोड़कर जीवन की सामान्य परिस्थितियो मे बोला गया झूठ व्यक्ति को समाज में घृणा, उपहास और दीर्घावधि मे अविश्वास का पात्र बना देता है। भारतीय परिप्रेक्ष्य मे इसे पाप कर्म की सज्ञा दी गई है जिसके प्रायश्चित और परिणाम, दोनो का सामना व्यक्ति को 'कर्म के सिद्धान्त' की परिधि मे अवश्यमेव करना पड़ता है। वैकासिक गति

की उलटबांसी आज इस रूप मे परिलक्षित हो रही है कि 'सच' बोलना सम्भवत उन समूहो, समुदायो या वर्गो तक ही सिमट कर रह गया है, सिमटता जा रहा है, जो विभिन्न कारणो से विकास की दौड़ मे या तो पीछे रह गए है या 'अभी तक' इसमे सम्मिलित ही नही हुए है। इस पूरे क्रम मे सर्वाधिक आश्चर्य की बात यह प्रतीत होती है कि शैक्षणिक और अकादमिक सस्थानो मे, जिनका सृजन सत्य और सुख की प्राप्ति के सन्दर्भ मे ज्ञान के प्रचार-प्रसार के महत्वपूर्ण मानवीय उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए किया गया था, मे पदासीन व्यक्ति 'कैरियर' की उस दौड़ मे सम्मिलित हो गए है जिसमे किसी का भी सच अब सच नही लगता। मित्र, अमित्र, कुमित्र सारे एक दूसरे की बातो, प्रतिबद्धताओ और वायदो के प्रति 'रस्सी साँप है या साँप रस्सी है' को सिद्ध करने की मनोवृत्ति अपना चुके है। वे एक ऐसा परिवेश निर्मित कर चुके हैं जिसमे सारी बाते बनी बनाई बाते लगती है। अन्तर मात्र इतना है कि उस समय जो भी बनी बनायी बाते थी वो भी कही न कही सामूहिक प्रसन्नता के क्रम मे सामाजिक-सांस्कृतिक सस्थाओ के निर्माण तथा सामाजिक क्रम के विकास से जुड़ी थी और लोग उनके द्वारा प्रस्तुत वातावरण को सच्चाई के साथ स्वीकार करते थे। आज की बनी बनाई बाते या इनमे लिपटा झूठ व्यक्ति-मात्र को मात्र जीवन को अपनी महत्वाकाक्षाओ और अभिलिप्साओ की येन-केन-प्रकारेण पूर्ति की दिशा में उद्दत करता है। इनकी परछाइयो मे सिमटी सोच किसी भी स्तर का आत्मिक सन्तोष ही प्राप्त कर पाती है। इससे एक ऐसी स्थिति का जन्म हो पाता है जिसमे व्यक्ति न तो स्वय का रह पाता है, न ही अन्य का हो पाता है और न ही समाज मे पारस्परिक स्वीकार्यता और अनुकूलन के सम्बन्ध स्थापित कर पाता है। फिर व्यक्ति बनावटीपन का शिकार बनकर जूठ बोलता ही क्यो है? इसके कारण पूँजीवाद की चारित्रिक विशेषताओ मे छुपे हुए है। इन विशेषताओ के आलोक मे पूँजीवाद को 'भौतिकतावाद की दौड़ और इस दौड़ मे सबसे आगे रहने की दुर्दम्य इच्छा' के रूप मे भी स्पष्ट किया जा सकता है। मीर के अनुसार —

'वाय नदानी अज वक्त मार्ग मे साबित हुआ,
खौफ था जो कुछ भी देखा, जो सुना अफसाना था।'

यह सिसिफस के मिथक की तरह है। जीवन पर्यन्त व्यक्ति इस दौड़ और दौड मे सबसे आगे रहने की दुर्दम्य इच्छा के प्रभाव मे जो ढाल बुनता है, उसके अधिकाश धागे भौतिकतावादी सस्कृति के ही होते हैं और भौतिकतावादी सस्कृति पूँजीवाद का पर्याय है लेकिन इसके दायरे मे जिसके लिए व्यक्ति अपने ताने-बाने बुनता है उसमे दूसरो की इच्छाओ-आकाक्षाओ के हनन, अधिकारो पर अतिक्रमण और विश्वास भन्जन जैसे कुत्सित कर्मों का भी समावेश हो जाता है। ये हासिल खुशियो से प्राप्त सन्तोष और आँखो की वास्तविक चमक को छीन लेते हैं। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया मे जो कुछ भी दिखता है वो आश्चर्यजनक रूप से व्यावसायिक जलन के क्रूरतम् और प्रतिस्पर्धात्मक दौड़ का जटिलतम् स्वरूप है। इसके एक कुपरिणाम के रूप मे विश्वविद्यालयो मे 'प्रतिभा' को नकारने-दबाने तथा मिथ्यारोपो और अनर्गल प्रलापो द्वारा व्यक्तित्व को क्षरित करने की रणनीति पहले उभरती हुई दिखती हैं। हालाँकि लेखनी मे इतनी शक्ति और क्षमता है कि वह व्यक्ति को पराजित कर दिए जाने के बावजूद टूटने से बचाती रहती है और पराजयो के कृत्रिम अन्तरालो के बाद वह सत्य से सम्भाषण और सच की शक्ति को महत्वपूर्ण रूप से और भी निखार कर उभारती है जैसे धुन्ध के बाद का सूरज निखरा-निखरा और तेजस्वी प्रतीत होता है। वास्तव में, सच बोलना हृदय का पोषक पेय और कष्ट के समय दवा दोनो ही है। सच बोलने से हृदय की कलुषता मिट जाती है और व्यक्ति तनावरहित मन स्थितियो के निकटतर हो जाता है। इसमे सन्देह नही कि पूँजीवाद के उत्पीड़नो और इसके रास्तो मे चुकाए गए मूल्यो को अब पौर्वात्य और पाश्चात्य दर्शन के पुरोधाओ द्वारा आधुनिक परिप्रेक्ष्य मे 'सामाजिक पूँजी' के क्षय के रूप मे देखे जा रहे हैं। इस सामाजिक पूँजी मे सस्कृति, परम्परा, भाषा और साथ ही साथ स्वय को बेहतरीन ढंग से प्रस्तुत करने के तत्व सम्मिलित थे, परन्तु आज के युग मे न्यूनाधिक रूप से प्रत्येक व्यक्ति 'सेल्समैन' मे परिणत होता जा रहा है और अपनी सामाजिक पूँजी को बेचने के भ्रम मे फेकता जा रहा है। इससे बड़ी विडम्बना क्या हो सकती है कि अपनी मूलभूत चीज़ को बेचने के बाद भी उसका खालीपन रह ही जाता है। इस बात की अनुभूति सम्भवत व्यक्ति को टूटने के क्रम मे ही होने लगती है और व्यक्ति का टूटना स्वय इस बात से ही होता है कि व्यक्ति स्वय अपनी कथा, श्रोता और दोहराव बन जाता है।

हाल ही मे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मे प्रोफेसर अनन्त रमण ने 'गीता और योग' पर एक आख्यानात्मक प्रवचन प्रस्तुत किया जो विद्यार्थियो के साथ-साथ व्यक्तियो के जीवन की प्रासगिकता के भी निकट दिखा। अचम्भित कर देने वाली पूँजीवादी होती जाती दुनिया मे हमे यूँ लगा कि सहारे के लिए व्यक्ति के पास दर्शन का होना नितान्त आवश्यक है। यह दर्शन हम अपने धर्म, सस्कृति, परम्पराओ, मूल्यो-मान्यताओ और विचारणाओ के विभिन्न बिन्दुओ से पा सकते है क्योकि इनमे व्यक्ति को सयमित और निर्देशित करने की शक्ति और क्षमता होती है और शताब्दियो से अनवरत ऐसा होता भी आ रहा है। इस पूरे प्रवचन मे हमे विशेषकर दो चीजे सीखने को मिली। प्रथम यह कि अभ्यास और कर्म की निरन्तरता ही योग है लेकिन इस सन्दर्भ मे शीघ्र फलाकाक्षी हो जाना जीवन को कर्म-केन्द्रित न रखकर आधुनिक परिवेश की दौड़ मे परिवर्तित कर देती है और दीर्घावधि मे जीवन मे तमाम विकृतियो और व्याधियो को जन्म देती है। फल की इच्छा तुरन्त न करने की प्रवृत्ति व्यक्ति को उसकी सीमाओ और अक्षमताओ का भी ज्ञान कराती रहती है। परिणामस्वरूप सज्ञान कर्म असन्तोष प्रदान करता है और सही अर्थो मे यही सच का परितोषिक है। यह वही सच है जो प्रकृति से हमे बच्चो की मुस्कान के रूप मे मिला है और व्यक्ति चाहे तो यही मुस्कान हमारे अधरो पर जीवन-पर्यन्त बनी रह सकती है। वास्तव मे, परपीड़ानुभूति न कर पाना या अपने झूठ की जीत से दूसरो को निर्बल बनाना अपनी बाल सुलभ मुस्कान को नष्ट करना है और यह एक प्रकार का कर्ज है जो पूँजीवाद हम पर लाद देता है। चूँकि यह सब बुद्धि से सम्बद्ध है, इसलिए गीता ने बुद्धि पर जोर दिया है। जब बुद्धि सूक्ष्म बन जाती है, तब व्यक्ति अनन्त और इकाई की अपनी अस्मिताबोध के साथ जीवित रहने मे सक्षम हो सकता है। प्रोफेसर अनन्त रमण ने गीता पर जो प्रवचन दिया, उसमे बुद्धि पर बल देने के साथ-साथ निरन्तर कर्म और इन्द्रियो के सन्तुलन के पारस्परिक समन्वय को सच और सन्तोष का स्रोत बताया है। मेरी दृष्टि मे इस सन्दर्भ मे गीता देशकाल की सीमा से पूरे दर्शनो का महादर्शन है। इस क्रम मे गीता के बारे मे वारेन हेस्टिग्स की यह उक्ति कि 'जब ब्रिटिश साम्राज्य के सूरज अस्त हो जाएँगे तब भी लोगो के मनोमस्तिष्क पर गीता छाई

रहेगी।' एक ऐसा सुन्दर और सगठित दर्शन जो उपनिषदो और वेदो का सार है जो आधुनिकता के साए मे आश्चर्यचकित करने जैसा लगता है। गीता-दर्शन महात्मा गाँधी के जीवन का अभिन्न और प्रेरक अग था तथा प्रोफेसर अनन्त रमन ने इस बात पर भी चर्चा की कि जब भी वे जीवन की दुरूहताओं मे अपने आप को फँसा हुआ पाते हैं, गीता उनकी तारणहार और पथप्रदर्शक बनकर उभरती थी। हमारी मान्यता है कि धर्मो के आचरण में धर्मग्रन्थ या मिथक किसी भी प्रकार से विश्लेषित किए जाए, चाहे *वो धार्मिक कट्टरपन्थ, भक्ति-प्राप्ति के स्रोत, युद्ध, जेहाद, क्रांति के परिप्रेक्ष्य मे ही* क्यो न हो, वे वास्तविकता के चित्र नही उकेर पाते हैं क्योकि अभी तक हमे एक निष्पक्ष बौद्धिक वातावरण नही प्राप्त हो सका है जिसमे हम अपने पारस्परिक असन्तोषो, मतभेदो, और भिन्नताओ के साथ जी सके। ऐसे मे ये दर्शन हमे जीवन के प्रति समग्रतापूर्ण सहमति के निर्माण के व्यापक आधार प्रस्तुत करते हैं और हमे इनकी ओर दृष्टि दौड़ानी चाहिए। ये हमारी साझे और विस्तृत इतिहास के साथ-साथ सम्मिश्र सस्कृति के वातावरण को भी जीवित रख सकते हैं। पश्चिम मे, जबकि इस दिशा मे पुरजोर प्रयास किए जा रहे हैं, हैबरमास का यह कथन कि इन्स्ट्रूमेन्टल एक्शन ने प्रकृति पर विजय तो प्रदान कर दी लेकिन न तो यह व्यक्ति के दिलो को जीता जा सका और न ही बुद्धि को बदला जा सका, यह आधुनिक विकास के पोपलेपन को ही प्रदर्शित करता है। आज व्यक्ति सचारात्मक तार्किकता मे अपनी बीमारियों की दवा ढूँढ़ता है जबकि भारतीय दर्शन और गीता की मौलिक मान्यता ही यह है कि 'सच है इसलिए सहमति है।' यह हेर-फेर वैचारिकी और दर्शन का द्वद्व है जो पूर्व को दर्शन के मामले मे पश्चिम से बहुत अधिक आगे कर देता है।

13

हिन्द-पाक सम्बन्धः सिसिफस का मिथक

भावनात्मक रूप से सोचने पर हम अक्सर हैरान होते हैं कि लोग युद्ध, मारपीट, झगड़ा, रक्तपात, वैमनस्यता जैसी गतिविधियो और प्रवृत्तियो मे क्यो संलिप्त रहते हैं? लेकिन समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से देखने पर हमे इसके पीछे इतिहास की मानसिकता तथा व्यक्ति, समूह और राज्य द्वारा शक्ति और वर्चस्व प्राप्त करने की प्रवृत्ति दिखती है। शायद यही प्रवृत्ति आधुनिक सामाजिक विज्ञान के निर्माण मे भी प्रभावी रही थी जिसके कारण प्रारम्भ मे व्यक्ति के व्यक्तित्व और स्वरूप के मौलिक तत्वो तथा प्यार, ईर्ष्या, घृणा, स्वार्थ आदि को तुच्छ और गौण समझ कर इनकी अवहेलना की गयी। एक ऐतिहासिक प्रक्रिया के द्वारा भारत-पाकिस्तान दो राष्ट्र तो बन गये लेकिन विगत 55 वर्षो मे आज तक ये पारस्परिक मतभेदों के कारण उलझते रहे हैं। तीन-तीन युद्धो, अनेक सैनिक अभियानो तथा पाकिस्तान द्वारा निरन्तर प्रायोजित प्रछन्न युद्धो एव ताशकन्द-लाहौर-आगरा जैसी निरर्थक कवायदों के बावजूद स्थिति वैसी की वैसी ही बनी हुई है। हाल ही से जारी गतिविधियो मे, जिनमे अमेरिकी अधिकारियो एव राजनयिको के लगातार भारत-पाक दौरे लग रहे हैं, से एक बार फिर बदली हुई अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो मे भारत-पाक सम्बन्धो की महत्ता उभर कर समाने आ रही है। पाकिस्तान मे जहाँ सत्ता और शक्ति की सहभागिता सेना और तथाकथित प्रजातन्त्र के बीच बँटी हुई है तथा भारत, जहाँ प्रजातन्त्र की ऐतिहासिक रूप से मजबूत जड़ो के बावजूद केन्द्र मे गठबन्धन सरकार की उपस्थिति

एक शक्तिशाली तथा निर्णय लेने मे सक्षम केन्द्र के अस्तित्व का प्रमाण नही देती है के परिप्रेक्ष्य मे ये जिज्ञासा उत्पन्न होती हैं कि यदि भारत-पाकिस्तान के बीच युद्ध नहीं भी होता है तो क्या इनके बीच मैत्री-भाव की स्थापना सम्भव है? आइए इसे हम समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से समझने का प्रयास करते हैं।

पॉच दशको से अधिक के वैमनस्य और दुश्मनी के बावजूद जहाँ आज भी कश्मीर पाकिस्तान के लिए अनिवार्य रूप से महत्वपूर्ण केन्द्रीय मुद्दा है, वही भारत के लिए धर्मनिरपेक्षता के चरित्र को ठुकरा कर अपनी भूमि त्यागना असम्भव सी बात प्रतीत होती है। वास्तव मे, कश्मीर का यह मुद्दा दोनो राष्ट्रो के सम्बन्धो मे खटास उत्पन्न करता है। लेकिन यह मुद्दा कोई हवा मे उत्पन्न हुआ मुद्दा नही है बल्कि यह दोनो राष्ट्रो की मौलिक सरचनाओ के मध्य आधारभूत अन्तरो से उपजा है जिसके बारे मे हम पहले भी चर्चा कर चुके हैं लेकिन इस क्रम मे यहाँ यह एक बार पुन आवश्यक प्रतीत होता है कि नये सिरे से इसकी चर्चा की जाये।

पाकिस्तान की प्रशासनिक सरचना ऐसी है कि वहाँ सेना की सहमति के बिना समय-समय पर तथाकथित रूप से निर्वाचित सरकारे कोई निर्णय नही ले पाती। लेकिन यह भी एक रोचक विरोधाभास है कि जो निर्णय विशुद्धत सेना के होते हैं उनकी जनतान्त्रिक वैधता और स्वीकार्यता सदेहास्पद रहती है। भारत-पाक सम्बन्धो के सन्दर्भ मे भी यह एक सुस्थापित द्वन्द्व है जो सम्बन्धो के सामान्य होने के रास्ते मे अवरोधक का कार्य करता रहता है। जहाँ सम्पूर्ण विश्व यह दबाव निर्मित कर रहा है कि भारत-पाक रिश्ते सुधरने चाहिए और सामान्य होने चाहिए वहाँ भारत-पाक मैत्री का सकल्पनात्मक तात्पर्य क्या हो सकता है? मैत्री के जिस स्वरूप और स्तर की आशा भारत-पाक की जनता करती है, वह इतिहास के आलोक में वर्तमान परिवेश मे मृगतृष्णा से अधिक कुछ नही दिखती है। ऐसी स्थिति मे यदि मैत्री की कदमताल होती भी है तो गति पकड़ने मे इसे दो-तीन दशक तो लग ही जायेगे। जहाँ तक मैत्री के भौतिक आधारो का प्रश्न है तो व्यापार, यातायात सम्पर्क, औपचारिक राजनयिक सम्बन्ध, खेलकूद आदि का नये सिरे से प्रवर्धित अभियान प्रारम्भ हो सकता है और इन बिन्दुओ पर मैत्री हो भी सकती है। लेकिन मानसिकता मे परिवर्तन, टेलीविजन

पर दुष्प्रचार, एक-दूसरे के हितो की अनदेखी, आतंकवाद, परस्पर अविश्वास तथा अल्पसख्यको के प्रति समानवाद से सम्बन्धित मुद्दे अभी भी दूर की कौड़ियॉ है। भारत-पाक के मध्य ईर्ष्या, जलन, घृणा, वैमनस्यता आदि को कश्मीर के मत्थे मढ़ा जाता रहा है जबकि वास्तविकता यह है कि इनको हम तभी सही ढग से समझ सकते हैं जब हम यह जान ले कि पाकिस्तान के राष्ट्र निर्माण की विषयवस्तु क्या है? इस विषय मे भी पाकिस्तान की नियति विडम्बना और द्वन्द्व की शिकार दिखती है। इस्लामी राष्ट्र घोषित होने से विश्व के धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रो की घृणा का लक्ष्य तो पाकिस्तान बनता ही रहता है, इससे उसके समक्ष पूँजीवाद की दौड़ मे पिछड़ जाने का भी खतरा उत्पन्न हो गया था। साथ ही यदि पाकिस्तान येन-केन प्रकारेण अपने अतीत से मुक्त हो धर्मनिरपेक्ष बन भारत से मधुर सम्बन्ध बनाने की चेष्टा भी करे तो यह वहॉं की सेना और कट्टरपन्थी जमातो को रास नही आयेगा। ऐसी मिश्रित भ्रामकता मे अपने भविष्य की जो धुधली और बनती-बिगड़ती तस्वीर वर्तमान का पाकिस्तान प्रस्तुत कर रहा है, उससे लगता है कि आने वाले कुछ दशको तक पाकिस्तान का अतीत उसका पीछा करता रहेगा और कट्टरपन्थी नेतृत्व तथा सेना के इशारे पर नाचता हुआ पाकिस्तान बना रहेगा।

इस आलोक मे भारत की विदेश नीति जहॉं यह रही है कि कश्मीर-मुद्दे को गौण मानते हुये नये सिरे से भले पड़ोसियो की तरह रहा जाये और शान्ति का वातावरण निर्मित किया जाये, पाकिस्तान इसकी सतत अवहेलना यह जानने के बाद भी करता रहता है कि युद्ध, आतंकवाद तथा हिंसा के सहारे भयादोहन से कुछ भी हासिल नही होने वाला। हाल ही मे अपने "कोर-कमाण्डरो" की एक बैठक मे पाकिस्तानी बुद्धिजीवियो, जो ये मानकर चलते हैं कि पाकिस्तान के हित मे यही है कि कुछ दिनो के लिये कश्मीर मुद्दे को भूल दिया जाये, की राय को सैन्य उच्चाधिकारियो ने सिरे से खारिज कर दिया। तात्पर्य यह कि पाकिस्तान के लिये भारत के सन्दर्भ मे कश्मीर मुद्दे की केन्द्रीय स्थिति जस की तस बनी हुई है। फिर भी अमेरिका मे बसे हुये पाकिस्तानी, जो पाकिस्तान की वास्तविकता को समझते हैं, का मानना है कि पाकिस्तान की अनिश्चित और अस्थिर राजनीति, निरन्तर बढ़ती हुई निर्धनता, विशालकाय होता अन्तर्राष्ट्रीय ऋण, निरन्तर चौड़ी होती जाती क्षेत्रीय

असमानता आदि लम्बे समय तक आने वाली पीढियो को दुष्प्रभावित करती रहेगी और अन्तत अन्तिम समाधान के रूप मे पाकिस्तान की तत्कालीन जनता इस दुष्चक्र से बाहर निकलना चाहेगी और इसके दबाव मे वहाँ की सेना और अभिजनो को अपने रास्ते बदलने पडेगे तथा अपनी सीमाएँ पुनर्निर्धारित करनी पडेगी। लेकिन फिलहाल तो पाकिस्तान सेना स्वय को सर्वकालिक स्वयभू माने हुये है।

ऐसी दशा मे एक विकल्प यह है कि भारत-पाक के मध्य विवादो को सुलझाने के उद्देश्य से जम्मू-लद्दाख भारत को तथा झेलम के आधार पर बाँटे गये कश्मीर का पश्चिमी भाग पाकिस्तान तथा पूर्वी भाग भारत को दे दिया जाये। यह "पुनन-कश्मीर" की राय तब है जबकि कश्मीर का बटवारा करना ही है। इससे कश्मीरी हिन्दू जो घाटी से पलायन कर गये हैं वापस अपनी पुश्तैनी जड़ो की ओर निर्भीक हो लौट सकेंगे। दूसरा विकल्प यह है कि चिनाब को बटवारे का आधार मानते हुये सारा कश्मीर तथा जम्मू का कुछ हिस्सा पाकिस्तान को दे दिया जाये, जो कत्तई सम्भव नही है। तीसरा विकल्प यह है कि जम्मू-कश्मीर को ज्यो का त्यों रखा जाये और नियन्त्रण रेखा को दुरुस्त करके सियाचीन पर भी कोई ठोस समझौता किया जाये। यह विकल्प एक सीमा तक दोनो राष्ट्रो के लिये व्यावहारिक हो सकता है, विश्व के सन्दर्भ मे। इसके अतिरिक्त कुछ लोगो का यह भी मानना है कि कश्मीर और पाकिस्तानी कश्मीर के बीच एक लचीली सीमा हो और दोनो भागो के मेल-जोल और आपसी सम्पर्क मे कोई बाधा नही हो तथा दोनो को मिलाकर एक स्वायत्त क्षेत्र बनाया जाये जिसमे दोनो राष्ट्रो का न्यूनतम तथा सुपरिभाषित हस्तक्षेप हो। लेकिन यह सारे विकल्प प्रथम दृष्टया सयुक्त राष्ट्र सघ के प्रस्ताव को अप्रासगिक, अव्यावहारिक और बेकार मानकर नकार देते हैं जिसमे "स्वायत्ता" जैसी किसी बात की चर्चा तक नही है। चूँकि अब पाक अधिकृत कश्मीर का एक बड़ा भाग चीन ले चुका है, इसलिए सयुक्त राष्ट्र सघ का यह प्रस्ताव पहले सम्पूर्ण कश्मीर एक हो तब वहाँ जनमत सग्रह कराया जाये, यह भी सम्भव नही है आज का कश्मीर बिखरा हुआ, विखण्डित कश्मीर है जिसका धार्मिक जनसाख्यिक स्वरूप भी कश्मीरी पण्डितों के पलायन से गडबड़ा गया है।

इन विकल्पो मे यह कोई यथार्थपरक है तो वह यह है कि नियन्त्रण रेखा और सियाचीन को फिर से समजित किया जाये। इसके अतिरिक्त अल्पसख्यको को पुनर्स्थापित करने के लिए एक विशेष परिक्षेत्र का निर्माण कर पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर को "जैसा है" की स्थिति मे ही छोड़ दिया जाये। अलोकप्रिय होने के बावजूद यह वास्तविकता और व्यावहारिकता के निकट का समाधान लगता है अन्यथा युद्ध से किसी समस्या का समाधान सम्भव नही है और न ही इसका समाधान उस बातचीत से तय होगा जिसमे पाकिस्तानी सेना और भारत की दुविधाग्रस्त गठबन्धन सरकारो का प्रतिनिधित्व हो। एक सुखद अन्त और प्रगतिशील भविष्य के लिये युद्ध को प्रत्येक परिस्थिति मे नकारना तथा साथ ही उन ऐतिहासिक तथ्यो और परम्पराओ के महिमामण्डित पुनर्जागरण से बचना होगा जिसमे त्रिशूल और तलवारे अतीत की रक्तरजित तीरगी की भयावह पुनरावृत्ति को तत्पर दिखती हो। क्योकि तलवार और त्रिशूल भाजने की बाते वे ही कर रहे है जो न तो स्वय फौज मे है न तो जिनके ऊपर कश्मीर की त्रासद छाया पड़ी है और न ही जिनके परिजन आतकवाद के शिकार हुये है। आमजन शान्तिप्रिय है और यही उचित भी है।

14

साम्प्रदायिकताः अनजाने यथार्थ

अफगानिस्तान की परिस्थितियो और उससे सम्बद्ध घटनाओ ने इस मिथक को भी तोड़ दिया। अब मुसलनमान अपनी समस्याओ का समाधान अपने माध्यम से और अपने लोगो के बीच ही ढूढना चाहता है। परिणामस्वरूप यहाँ अब मुसलमानो के बीच एक नये नेतृत्व की तलाश शुरू हो गयी है जो जिन्ना के बजाय मौलाना अबुल कलाम आजाद की राहे दिखाए और ऐसे इमामो की नसीहतो का अनुपालन करे जिन्होने अपने धर्म के साथ-साथ दूसरो के धर्म की भी इज्जत की है।

गुजरात के दगो ने न सिर्फ देश को झकझोर कर रख दिया है बल्कि सम्पूर्ण विश्व की दृष्टि की परम्परागत सौहार्द्र आधारित छवि को भी नुकसान पहुँचाया है। साथ ही इसने एक बार फिर से इसके सन्दर्भ मे प्रजातन्त्र, सभ्य समाज, धर्मनिरपेक्षता जैसे मुद्दो को चर्चा के केन्द्र से जोड़ दिया है। गोधरा काण्ड के बीतने के दो साल बाद भी समाचार पत्रो की सुर्खियो से लेकर हर आम जनता तक मे इसकी व्यापकता को देखा जा सकता है । तब से अब तक अनवरत् विभत्स साम्प्रदायिक दगो का बहुपक्षीय

विश्लेषण भी जारी है यहाँ तक कि भारतीय संसद मे ऐतिहासिक निन्दा प्रस्ताव के माध्यम से भी इसको चिन्हित, निरूपित और विश्लेषित करने का प्रयास किया गया। यह प्रयास एक विभाजित और विखण्डित प्रयास मात्र बनकर रह गया क्योंकि स्वार्थाधारित राजनीति की कलुषता लिए भारतीय सत्ता-अभिजन, नैतिकता और मानवता आदि बिन्दुओ पर भी विभाजित दिखे, जो परम्परागत रूप से सर्व स्वीकार्य और विवादो से परे रहे प्रतीत होते है। अब तो विशेषज्ञ-विश्लेषक यह स्वीकार करने लगे हैं कि इस तरह की प्रत्येक बहस के साथ ससद की गरिमा और स्तर निरन्तर पतित हो रहा है। सासदो मे नैतिकता और उत्तरदायित्व की भावना का क्षय भी इसी भाँति प्रतिदिन हो रहा है। परन्तु ऐसा तो होना ही था।

सत्तर के दशक तक जन-प्रतिनिधियो के रूप मे चुनकर जो सासद आते रहे वो राष्ट्रीय आन्दोलन की कुन्दन-आग मे न सिर्फ तप कर निखरे हुए थे, बल्कि समाज के मध्यवर्ग और उच्च श्रेणी से भी सम्बन्ध रखते थे। उनमे से कुछ सासदो ने तो राष्ट्रीय आन्दोलन मे राष्ट्र और जनता के समक्ष त्याग और बलिदान की नयी और अप्रतिम मिसाले कायम की थी। इसलिए ससदीय कार्यवाही और बहसो के दौरान मुद्दो के चयन, इनके प्रस्तुतीकरण तथा इस क्रम मे इस्तेमाल की गयी भाषा और लहजे इत्यादि आदर्श रूप मे उभर कर सामने आते थे। विपक्ष या सत्ता पक्ष, दोनो ही स्थितियो मे राजनीतिक सोच का मजबूत आधार तार्किक, ईमानदाराना और शुचितापूर्ण होता था। परन्तु 70 के दशक तक के आम-चुनावो के बाद सासदो और उनके कारण ससद का स्वरूप भी परिवर्तित होने लगा। इसके बाद चुनकर आने वाले सासदो मे एक बड़ा वर्ग नवधनाढ्य वर्ग से सम्बद्ध हो गया जिनमे से अधिकाँश आजादी के बाद की पीढ़ी के थे। इसलिए इनमे उस राजनीतिक सोच, दूरदर्शिता, दीर्घकालिक एजेण्डा और नैतिकता पर आधारित जज्बे का अभाव था जो उनके *पूर्ववर्तियो की मौलिकता मे शामिल था। परिणामस्वरूप संसदीय बहसे अब किसी भी* बिन्दु पर चाहे वो साम्प्रदायिकता जैसा गम्भीर और स्वतन्त्र ही क्यो न हो, आम जनमानस पर प्रभाव नही छोड़ पा रहा है। लेकिन इसका तात्पर्य यह कतई नही है कि संसदीय बहसो और परिचर्चाओ से परे बौद्धिकता का प्रभामण्डल एकदम तेजहीन हो

चला है। पिछले माह मे कम से कम दो ऐसी सभाएँ मऊ और वाराणसी मे हुई हैं जिनमे साम्प्रदायिकता के अनछुए पहलुओ, सन्दर्भो और आपबीतियो के सन्दर्भ मे तमाम समुदायो के लोगो ने खुलकर भाग लिया और साथ ही राष्ट्र मे दल-विहीन राजनीति की सम्भावनाओ को तलाशने की कोशिश भी की। इस प्रक्रिया मे ऐसे स्वाख्यान उभर कर सामने आए जिनमे आम आदमी की मजबूरियो, बेज़ुबानी और मायूसी के दोहराव दिखते है। इस स्वाख्यानो मे एक मुस्लिम स्वाख्यान भी था जिसकी मान्यता है कि *विभाजन ने सबसे अधिक नुकसान हिन्दुस्तान के मुसलमानो को पहुँचाया है। यहाँ के* मुसलमान विभाजन के बाद भी इस उलझन से बाहर निकल नही पाए कि हिन्द-पाक शत्रुता के दरम्याँ अपने आप को कहाँ रखे। इनका कहना था कि लगभग 1971 तक जब कभी साम्प्रदायिकता उभर कर सामने आती थी, जाने अनजाने वे मशरिके-पाकिस्तान (अब बाग्लादेश) कूच कर लिया करते थे, लेकिन 1971 के बाद द्वि-राष्ट्र मिथक के टूटने के पश्चात् यहाँ के मुसलमानो ने कही और देखना छोड दिया। इसके पीछे इनकी विवशताओ और कटु अनुभूतियो का आधार था क्योकि पाकिस्तान गए यहाँ के मुसलमान जहाँ एक ओर मुहाजिर की विभेदपूर्ण सज्ञा देकर आज तक अपनाए नही जा सके है, वही दूसरी ओर अब भारतीय मुसलमानो की निष्ठा पर प्रश्न चिन्ह लगाए जा रहे है। यह एक अजीब सा दर्द, एक विचित्र सी टीस देती अनुभूति है जिसे इस द्वद्व का शिकार एक अल्पसख्यक ही जान सकता और महसूस कर सकता है। 80 के बाद पाकिस्तान के इस्लामीकरण ने उन्हे फिर से उसी दुनिया मे धकेल दिया जिससे बाहर निकलने की कोशिशे वे कर रहे थे। वे मुसलमानो के विभाजन को वास्तविकता के धरातल पर नजरअन्दाज नही कर सकते थे लेकिन साथ ही वे मुस्लिम उम्मा की ओर भी देखते थे। परन्तु इस इस्लामीकरण का प्रभाव यह हुआ कि मुसलमानो का आधुनिक और प्रगतिशील नेतृत्व उस तरह से आगे नही बढ पाया जिसकी उम्मीद थी। मुसलमानो की बागडोर प्रगतिशील और आधुनिकता की राह पर सरकते-सरकते धार्मिक कट्टरता और मदरसो के दायरे तक सिमट कर रह गई।

अफगानिस्तान की परिस्थितियो और उससे सम्बद्ध घटनाओ ने इस मिथक को भी तोड दिया। अब मुसलमान अपनी समस्याओ का समाधान अपने माध्यम से और अपने लोगो के बीच ही ढूँढ़ना चाहता है। परिणामस्वरूप यहाँ अब मुसलमानो के बीच एक ऐसे नए नेतृत्व की तलाश शुरू हो गई है जो जिन्ना के बजाए मौलाना अबुल कलाम आजाद की राहे दिखाए और ऐसे इमामो की नसीहतो का अनुपालन करे जिन्होने अपने धर्म के साथ-साथ दूसरो के धर्म की भी इज्जत की है न कि कठमुल्लो के फतवो पर चलकर मानवता को गर्त मे धकेला है। आज यहाँ का मुसलमान मीर, गालिब, अकबर इलाहबादी, कबीर, चिश्ती और ऐसे ही अनेक मील के पत्थरो को, जिन्होने न सिर्फ इस्लाम की मौलिकता को बनाए रखा बल्कि इसकी पाकीज़गी और जीवन दर्शन से भी दुनिया को रूबरू कराया, की आशा मे खड़ा है।

इस स्वाख्यान से साफ नजर आता है कि यहाँ का मुसलमान हालात से तग और थका हुआ है जिसके मूल मे इसका लम्बे समय तक सही नेतृत्व से वचित रहना रहा है। शिक्षा-दीक्षा के सस्थागत और व्यावहारिक उद्देश्यात्मक अभाव ने इनको आसानी से दिग्भ्रमित किया और बनाए रखा है लेकिन इसे वे अब समझने लगे है। अब वे यह समझने लगे हैं कि उनका भविष्य सुरक्षा, खुशहाली और समृद्धि इस देश की मिट्टी से बने उन झरोखो मे ही है जिन्हे व्यापक रूप मे सूफियो, पीरो-फकीरो और साधु-सन्तो की सस्कृति, फलसफा और अंदाज के रूप मे देखा जाता है और जो शुरू से लेकर अबुल कलाम तक की श्रखला मे गुँथा हुआ है।

दूसरा स्वाख्यान एक ऐसा स्वाख्यान था जिसमे एक मुसलमान, जिसने सुरक्षा के चक्कर मे अपने पड़ोसियो को सही जगह पहुँचाया की कहानी थी। लेकिन जब वे पड़ोसी अपने सुरक्षित झुण्ड मे आ गए तो उनको विभिन्न तरीको से बाध्य करके यह प्रचारित करने को बाध्य किया गया कि उनके मुसलमान पड़ोसियो ने उनके साथ बहुत बुरा बरताव किया। परिणामस्वरूप हकीकत का अफसाना उनकी बेबस बेजुबानियो मे दब गया और एक आरोपित-अध्यारोपित नकारात्मक काल्पनिक कहानी प्रकाश मे आ गई। ऐसा ही एक उदाहरण 1989 मे कश्मीर मे पहली बार तब

आया जब बन्दूक के बल पर कश्मीर को हिन्दुओ से खाली कराने का आतकी अभियान शुरू किया गया। वहाँ पहले चरण की अल्पसंख्यक मौतो मे हत्या को राजनीतिक हत्या के रूप मे प्रचारित किया गया। इसी प्रकार दूसरे चरण मे इसे विरोधियो की हत्या तथा तीसरे-चौथे मे मुखबिरो की हत्या का रग दिया गया। अन्तत इस सतत् प्रक्रिया के बाद कश्मीरी पण्डितो ने यह सोचा कि मुखबिर तो कोई भी हो सकता है और पलायन कर गए शरणार्थियो के रूप मे। लेकिन जम्मू के शरणार्थी शिविरो मे पहुँचते ही वे भी गुजरात के वर्तमान शरणार्थी शिविरो की भाँति साम्प्रदायिक सोच और पूर्वग्रहो मे रग गए। इन स्वाख्यानो से क्या पता चलता है? ये बताते है कि भारतीय समाज एक सम्मिश्र समाज है जिसमे न सिर्फ भिन्न-भिन्न जातियाँ है बल्कि अलग-अलग समुदायो का भी अस्तित्व है। लेकिन आमतौर पर ये सारे के सारे अपने किसानी वातावरण फसलो, त्योहारो और आपसी सामन्जस्य मे न सिर्फ खुश है बल्कि सुरक्षित है। यह एक विडम्बना ही है कि जब कभी इनकी खुशियाँ और चैन इनसे छिने गए तो वो बाहरी तत्वो द्वारा ही। इससे भी बड़ी विडम्बना यह है कि सम्बन्धित ऐसे स्वाख्यान इनसे बाहर आम लोगो तक नही पहुँच पाते हैं। न तो ये ससद मे प्रतिध्वनित हो पाते है और न ही अकादमिक वातावरण मे इनको स्थान मिल पाता है, लेकिन एक नई शुरूआत के रूप मे वाराणसी और मऊ मे उभरे स्वाख्यान साम्प्रदायिकता के प्रति आम और भुक्तभोगी नागरिको के अनुभवो को प्रकाश मे लाते है। इस स्वाख्यानो का गुजरात के दगो से क्या सम्बन्ध है। समझ मे नही आ रहा है कि गोधरा-काण्ड और उसके बाद का गुजरात क्या है, इसकी पृष्टभूमि मे कौन सी कहानियाँ है! क्या हम इसे उसी सूत्र मे बाँध सकते है जिसकी दो शाखाएँ धार्मिक-राष्ट्रवाद और धर्मनिरपेक्ष-राष्ट्रवाद है। विश्लेषण के लिए और हस्तक्षेप की दृष्टि से इसे इस तरह का स्वरूप प्रदान करना उचित प्रतीत हो सकता है, लेकिन वास्तव मे ऐसी घटनाएँ गुजरात मे राजनीतिक अर्थव्यवस्था के नए उभारो की प्रक्रिया से उत्पन्न झगड़ा है जिसे सहूलियत के लिए धार्मिक रग दे दिया गया है। इस प्रक्रिया की जड़े 80 के दशक मे छुपी हैं। इसी प्रक्रिया ने 80 के दशक मे गुजरातियो को युगाडा छोड़ने का आदेश दिया। परिणामस्वरूप वहाँ से पलायित होकर उन्ही

गुजरातियो ने इग्लैण्ड मे लिस्टर शहर बसाया और कनाडा, अमेरिका आदि मे सशक्त आर्थिक समुदाय के रूप मे अपनी पहचान बनाई और आगे चलकर 90 के दशक मे अपने पाँव पसारने शुरू किए। इसी वर्चस्वशील प्रक्रिया का एक नकारात्मक परिणाम गुजरात के दगो के रूप मे सामने आया है जिसका मूल साम्प्रदायिकता से कोई सम्बन्ध नही है, लेकिन यह भी हकीकत है कि इसने गुजरात के माध्यम से मानवता के आम रिश्तो के बीच एक और आशका की विष बेल बो दी है।

नजर मे हैं जलते मकानो के मजर,
चमकते हैं जुगनू तो दिल काँपता है।

15

कश्मीरः सिमटते विकल्प

> *यह तो तय है कि चाहे कुछ भी हो जाए, न तो कश्मीर का सौन्दर्यपूर्ण अतीत वापस लौटाया जा सकता है और न ही खोई हुई जिंदगियाँ, लेकिन इसके अतीत से सीख अवश्य ही हासिल की जा सकती है।*

आधुनिक विश्व के सर्वाधिक महत्वपूर्ण, सार्थक और सफल आन्दोलनो मे भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रमुख स्थान प्राप्त है। दीर्घकाल तक अनवरत रूप से चले इस आन्दोलन की परिणति सकारात्मक और सुखद रही। इसका श्रेय गाँधी जी, नेहरू आदि राजनेताओ के साथ-साथ तत्कालीन भारत के उन हजारो-लाखो आन्दोलनकारियो को दिया जाता है जिनके नाम इतिहास के पन्नो मे दर्ज नही हो पाए हैं। गाँधी जी ने 'अहिंसा' की विचारणा के साथ पढ़े-लिखे उच्च-मध्यम वर्ग के नेतृत्व मे भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को नई ऊँचाइयाँ प्रदान की जिसने न सिर्फ भारत के इतिहास को 'सम्मिश्र' और भारतीय समाज को 'उद्‌विकसित होते समाज के' रूप मे पहचाना था बल्कि इनके सार को भी जाना था। यही कारण था कि राष्ट्रीय आन्दोलन तत्कालीन विशालकाय ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध भी न सिर्फ निरन्तर चला बल्कि अन्ततः 'स्व-निर्धारित' स्वतन्त्रता का लक्ष्य भी सफलतापूर्वक प्राप्त किया।

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत मे विभिन्न दिग्भ्रमित महत्वाकांक्षी नेताओ द्वारा उठाए गए मुद्दे और उन मुद्दो पर आधारित हिंसक और अलगाववादी आन्दोलन कभी भी जनादोलनो मे परिणत नही हो सके बल्कि वे ऐसे भ्रान्त सजातीय प्रतिक्रियाओ के क्षणिक और आशिक प्रतिनिधि बन कर रह गए जो सामूहिक सस्कृतियो को तोड़ने, बहु-सस्कृतियो को नकारने तथा घृणा की आधार शिला पर खड़े थे। इसीलिए ये कभी भी अपने उद्देश्यो के सन्दर्भ मे कोई प्रासगिक और तार्किक विकल्प प्रस्तुत नही कर पाए।

इस आलोक मे देखा जाए तो हम यह पाते है विश्व मे विभिन्न स्थानो मे समय-समय पर जो आन्दोलन मात्र सस्कृतियो को विघटित करने और इतिहास को नकारने के आन्दोलन रहे है तथा जिनकी पृष्ठभूमि मे हिसा (बन्दूक) रही है। उनका अस्तित्व 10-15 वर्षो से अधिक का नही रहा है। अन्तिम रूप से उनको मायूसी, असफलता, हताशा और कुछ खोने के अहसास के अलावा और कुछ प्राप्त नही हुआ है। लेकिन भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन अपनी गौरवमयी उपलब्धियो के साथ इतिहास को सीख देने वाला आन्दोलन रहा है क्योकि यह मानवीय मूल्यो के सम्मान के साथ-साथ स्वाभिमान की प्राप्ति के पवित्र उद्देश्यो का भी आन्दोलन था।

इसके विपरीत बन्दूक-सस्कृति के उभार के साथ 1989 मे पहली बार प्रारम्भ हुआ 'स्वतन्त्रता का कथित आन्दोलन' हताशा, मायूसी, असफलता और कुछ खोने के भाव के साथ निरर्थक परिणति की यात्रा प्रतीत होता है। अपने नियोजित स्वरूप के कारण इसने अपने अधिकाश कमान्डरो का नेतृत्व कश्मीरी मुस्लिम समाज के उन लोगो के हाथ मे दे दिया जो तब तक परम्परागत रूप से समाज मे कोई महत्वपूर्ण मुकाम नही बना सके थे। इनमे दर्जी, अनपढ़, बेरोजगार परन्तु महत्वाकाक्षी युवाओ की प्राथमिक स्तर पर प्रमुखता थी। ये वे लोग थे जो अचानक पैसे, प्रतिष्ठा और ग्लैमर की चकाचौंध से माला-माल होना चाहते थे और तब तक वास्तविक कश्मीरी सस्कृति से जिनका व्यावहारिक सात्मीकरण नही हो सका था। यह वह दौर था जब नफरत के दरिया मे कश्मीर के हजारो कच्चे घड़े यूँ ही गर्क हो

गए। इसकी कहानी 'दी शैडोज ऑफ मिलिटेन्ट' मे बखूबी बयान की गई है, लेकिन अब कश्मीर का कथिक स्वतन्त्रता आन्दोलन महत्वपूर्ण प्रथम चक्र प्राय पूरा कर हुर्रियत और उसके नुमाइन्दे भी यह समझने लगे है कि प्रायोजित कश्मीर समस्या का कोई व्यावहारिक और स्थायी समाधान भारतीय सविधान के दायरे मे ही सम्भव हो सकता है। इसके पूर्व उनका रुख कट्टरपन्थियो से कही अलग नही था। उनके रुख मे हुए बदलाव के तीन प्रमुख कारणो पर गौर किया जा सकता है

1 कश्मीर का आम नागरिक जो पहले दिग्भ्रम की स्थिति मे था, वह अन्तहीन और परिणामहीन खूँरेज आतकवाद से त्रस्त हो चुका है तथा वह अब और नई पीढी का खोता हुआ बचपन नही देख सकता है।

2 11 सितम्बर 2001 की घटना के बाद विश्व पटल पर वैचारिक और राजनीतिक अप्रत्याशित रूप से बदली है।

3 क्रमश विश्व के समक्ष पाकिस्तान का खूँखार चेहरा बेनकाब होने लगा है।

अपने कुत्सित लक्ष्य की प्राप्ति के सन्दर्भ मे पाकिस्तान ने कश्मीर मे 'मुस्लिम आतकवाद' का प्रारम्भ अफगानिस्तान के परिप्रेक्ष्य मे निर्मित और व्यवहृत रणनीतिक दूरदेशी के आधार पर किया था। इसके पीछे पाकिस्तान की बलवती सोच थी कि जिन रणनीतिक और परिस्थितिगत कार्यक्रमो के दीर्घकालिक प्रयोग से तत्कालीन सोवियत रूस को अफगानिस्तान से हटने के लिए बाध्य किया गया, उन्ही के सहारे अब भारत मे, विशेषकर कश्मीर मे 'तथाकथित जेहादी जग' चलाकर, भारतीय राज्य को थकाकर अन्तत समर्पण करने पर विवश किया जा सकता है। इसी की अगली कड़ी के रूप मे उसने कश्मीर के सन्दर्भ मे 'न्यूक्लीयर फ्लैश प्वाइन्ट' का सिक्का लुढ़का कर विश्व का ध्यान कश्मीर मुद्दे की ओर आकर्षित करने का प्रयास किया। यह आणविक धमकी के माध्यम से विश्व मानवता को भयादोहित करने का एक घटिया और आतकवादी नमूना था जिसकी आलोचना चेतावनी भरे अन्दाज मे भारतीय प्रधान मन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने सयुक्त राज्य अमेरिका की जनरल असेम्बली को सम्बोधित करते हुए किया है। प्रारम्भ मे पाकिस्तान के

परस्पर विरोधाभासी प्रयासो के मद्देनजर कश्मीर के अन्तत भारत से अलग हो जाने की आशकाएँ बलवती प्रतीत होने लगी थी और हुर्रियत जैसे धडे इस सन्दर्भ मे आश्वस्त हो चले थे, लेकिन 11 सितम्बर 2001 की घटनाओ के बाद पाकिस्तान स्वय अफगानिस्तान के सन्दर्भ मे निर्मित और व्यवहृत रणनीतिक-दूरदेशी की ज़द मे आ गया लगता है। वहाँ सैन्य शासन और कट्टरपन्थियो के बीच अमेरिकी प्रभाव के दायरे बढ़ने लगे और क्रमश पाकिस्तान का बुद्धिजीवी वर्ग भी हताश होने लगा है। अब कश्मीर मे पाकिस्तान प्रायोजित आतंकवाद जहाँ निन्दा का विषय बन गया है वही राष्ट्रीयता के प्रति भारत के धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण को नए सिरे से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकार किया जा रहा है। तालिबान के बिखराव और पाकिस्तान के परमाण्विक-भयादोहन के कुत्सित प्रयासो का प्रकाश मे आना हुर्रियत के लिए एक बड़ा झटका सिद्ध हुआ है। यही कारण है कि अब इसका अकड़ा तेवर क्रमश नर्म होने लगा है। पहले जहाँ इसने कश्मीर विधानसभा चुनावो का प्रत्येक स्तर पर बहिष्कार करने की घोषणा की थी, वही जब इसने देखा कि इसके बावजूद वहाँ प्रथम चरण मे अच्छा-खासा मतदान हुआ है तो इसका रुख गिरगिट के रग की तरह बदल गया। अब यह कश्मीर के नागरिको से येन-केन-प्रकारेण नेशनल कान्फ्रेस को हराने की अपील के रूप मे सामने आया है। इन सबके अतिरिक्त हाल ही मे घटी वह घटना महत्वपूर्ण रूप मे उभरकर सामने आई है जिसमे एक अद्यतन रिपोर्ट के माध्यम से सयुक्त राज्य अमेरिका की काग्रेस ने यह आग्रह किया है कि 'स्वतन्त्र कश्मीर' कट्टरपन्थियो का एक नया गढ़ बन सकता है जहाँ गैर-मुस्लिम अल्पसख्यक न सिर्फ समाप्त कर दिए जाएँगे बल्कि उदारवादी और मध्यमवर्गी मुसलमानो का जीवन भी दुरूह हो जाएगा। इस रिपोर्ट के आने से तथाकथित तृतीय विकल्प (कश्मीर की स्वतन्त्रता) भी सिमट कर रह गया है और इसकी आस रखने वाली हुर्रियत और कश्मीर के बुद्धिजीवियो मे निराशा पसर चुकी है क्योकि उन्हे अब यह स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगा है कि विगत 15 वर्षो से कश्मीर से चल रही चगेजी खूँरेजी और सस्कृति के क्षय की प्रक्रिया शनै - शनै एक तार्किक-परिणति पाने लगी है। इसका प्रमाण उन्हे और दुनिया को वहाँ के नेताओ और नागरिको की मानसिकता मे आ रहे सकारात्मक बदलाव के रूप मे

मिलने लगा है। यही कारण है कि हाल के कश्मीरी चुनाव सिलसिलेवार बडे और विध्वसक हादसो से बचे रहे। इसके बरअक्श पड़ोसी पाकिस्तान मे अब भी सैन्य वर्चस्व जस का तस है और टेलर्ड प्रजातन्त्र वस्तुत 'प्रजातन्त्र' का मजाक उडाता नजर आ रहा है।

इस पूरे क्रम मे यह तो तय है कि चाहे कुछ भी हो जाए, न तो कश्मीर का सौन्दर्यपूर्ण अतीत वापस लौटाया जा सकता है और न ही खोई हुई जिन्दगियाँ, लेकिन इसके अतीत से सीखे अवश्य ही हासिल की जा सकती है, यथा यह कि आगे कश्मीर कैसे सम्भलेगा, विस्थापित कश्मीरियो का पूनर्समायोजन किस प्रकार किया जा सकता है, सरकार का सार्थक पैकेज क्या होगा इत्यादि। क्योकि जहाँ हुर्रियत इस्लामिक कश्मीर चाहती थी, वहाँ अब उसका वर्चस्व समाप्त होता जा रहा है। जहाँ हिन्दू अलग क्षेत्रों की माँग पर उतर आए थे, वही यह माँग क्रमश कम तीव्रतर होती जा रही है लेकिन फिर यही पर 'मानवाधिकारो' और 'मानवाधिकार आयोग' का एक नया प्रश्न उभर कर सामने आता है। जो कश्मीरी लम्बी अवधि से कश्मीर के बाहर शरणार्थी शिविरो मे रह रहे है क्या वे फिर से एक नई और सामान्य जिन्दगी अपने पैतृक गॉवो मे प्रारम्भ कर सकते है? क्या बहुसख्यक मुसलमान ग्रामवासियो के साथ अपने पारम्परिक सम्बन्धो और सास्कृतिक सम्पर्को को फिर से उसी तरह जी सकते है जैसा कि शताब्दियो से जीते आए थे? अब यह सम्भव प्रतीत नही होता है क्योकि सातत्य शताब्दियो मे स्थापित हो पाता है। तो क्या सरकार इन्हे घाटी मे अलग स्थान देकर बसा सकेगी? अभी इन प्रश्नो का कोई ठोस उत्तर नही पाया जा सकता है और शायद कश्मीर के ये चुनाव और इनके परिणाम भी इनका समाधान नही कर पाएँगे क्योकि स्थितियाँ अभी भी अत्यन्त ही जटिल है परन्तु ये मुद्दे राज्य और केन्द्र सरकार को इसी क्रम मे गम्भीरतापूर्वक विचार और व्यवहार करने को अवश्य ही बाध्य करेंगे। कश्मीरी विस्थापितो के भविष्य के बारे मे लिया जाने वाला प्रत्येक फैसला उन कश्मीरी युवाओ से भी जुड़ा हुआ है जो या तो भारत की विभिन्न ज़ेलो मे बन्द हैं या पाकिस्तान के आतकी-शिविरो मे गुमराह भटक रहे हैं। इनका समाधान एक साथ और सन्तुलित रूप मे होना चाहिए। नई सरकार का यह प्रयास

होना चाहिए कि कश्मीर पैकेज एक सम्पूर्ण पैकेज के रूप मे सभी सम्बद्ध पक्षो द्वारा सहज स्वीकार्य हो न कि पूर्व की भाँति खण्डित और विभेदीकृत। यदि ऐसा होता है तो निश्चय ही कश्मीर की अवाम और साथ मे भारत एक शान्तिपूर्ण सुनहरे भविष्य की दिशा मे सधे हुए कदम बढा सकेगा। आमजन शान्तिप्रिय हैं और भारत के प्रति उनके अदम्य आकर्षण और पीढ़ियो के सम्बन्धो को बन्दूक के बल पर सहज ही समाप्त करना एक असम्भव कार्य है।

यदि सम्पूर्ण पर एक साराशीय दृष्टि डाली जाए तो पता चलता है कि कश्मीर-मुद्दे या कश्मीर के सम्बन्ध मे लिए गए निर्णय पर सयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति का गहरा असर रहा है और वर्तमान मे कश्मीर की जुम्बिशो पर भी उनकी 11 सितम्बर 2001 के बाद ली गई करवटो के असर हैं लेकिन ये सम्भावना बलवती हो रही है कि, आगरचे कि रूठी बहारे न लौटे, तब भी खिजा के साए खत्म हो रहे है।

नाहक हम मजबूरो पर, ये तोहमत हैं मुख्तारी का,
जो चाहो सो आप करे, हमे अबस बदनाम करे।

16

और वितस्ता बहती रही

पाकिस्तान के निर्माण की बुनियाद जिन्ना के 'द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त' पर आधारित थी लेकिन जिन्ना व्यावहारिक रूप से पाकिस्तान से कभी खुश नही रह सके। यह कोई आश्चर्य की बात नही थी यदि उन्होने इसे 'इटेन पाकिस्तान' की सज्ञा दी थी। निर्माण के समय से (सैद्धान्तिक) ही वे तब पाकिस्तान और आज के बागलादेश के लिए भारत से गुजरने वाला एक 'गलियारा' मॉग रहे थे। यह एक अव्यावहारिक और असम्भव मॉग थी। साथ ही वह कश्मीर को भी पाकिस्तान का हिस्सा बनाना चाहते थे क्योकि इनके बिना बना पाकिस्तान उनके लिए अधूरा पाकिस्तान था। लेकिन ऐसा हुआ नही बल्कि इसके विपरीत स्वय उनके सपनो के पाकिस्तान के विभिन्न प्रान्तो और फिरको मे कभी भी सादृश्यता नही आने पाई। इसी कारण जिन्ना की यह इच्छा भी व्यावहारिकता मे नही बदल सकी कि पाकिस्तान के झडे में चाँद के साथ एक सितारे की जगह चार सितारे होगे। एक स्वतन्त्र देश के रूप मे विश्व मानचित्र पर स्थापित होने के बावजूद इसके इतिहास और सस्कृति पर भारत की परछाईयाँ छाई रही।

कश्मीर पर पाकिस्तान का पहला हमला भारत-विभाजन और स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद कबायलियो के छद्म रूप मे हुआ। वस्तुत यह पाकिस्तान द्वारा कश्मीर को भारत से छीनने का एक कुत्सित प्रयास था लेकिन तत्कालीन कश्मीर की अवाम के प्रतिनिधि 'शेर-ए-कश्मीर' शेख मोहम्मद अब्दुल्ला और राजा हरि सिंह ने

इस हमले को विफल करने के लिए भारत से मदद माँगी और भारत ने उनके आग्रहो का सम्मान करते हुए त्वरित सैन्य कार्रवाई के द्वारा कश्मीर का अधिकाश हिस्सा पाकिस्तान के कब्जे से मुक्त करा लिया। फिर भी लगभग एक-तिहाई कश्मीर पाकिस्तान के कब्जे मे बना रहा। चूँकि उन परिस्थितियो मे पाकिस्तान हमलावर देश था, इसलिए भारत इस मामले को सुरक्षा परिषद मे ले गया। माना जाता है कि वहाँ कश्मीर मुददे पर कुछ फैसले हुए जो निम्नवत थे —

कश्मीर का पुन एकीकरण हो जाए, पाकिस्तान कश्मीर से अपने अनाधिकृत कब्जे को खाली करे और भारत और पाकिस्तान मे से किसी एक को चुनने के सन्दर्भ मे कश्मीर मे जनमत सग्रह हो। चूँकि अपनी कुत्सित चालो और आक्रामक व्यवहार के कारण पाकिस्तान सशय मे और भयभीत था कि कहीं कश्मीरी अवाम उसे नकार न दे, इसलिए वह 1948 से 1953 तक लगातार इन फैसलों को टालता रहा क्योकि शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व मे कश्मीरी प्रत्यक्षत भारत के साथ थे। पचास के दशक के शुरू होते ही विश्व स्तर पर शीतयुद्ध का दौर शुरू हुआ और दुनिया दो खेमो मे बँट गई। बदली हुई वैश्विक परिस्थितियो मे रूस के खिलाफ अमेरिका को कश्मीर मुद्दा प्रासगिक प्रतीत हुआ। अत स्टीवेन्शन के माध्यम से अमेरिका ने कश्मीर के भारत के प्रति लगाव को समाप्त करने के लिए शेख अब्दुल्ला का मन बदलने के भी प्रयास शुरू किए। इन कूटनीतिक और मनोवैज्ञानिक प्रयासो का आशिक परिणाम यह हुआ कि अब्दुल्ला साहब ने 'सुल्तान-ऐ-कश्मीर' बनने के सपने देखने शुरू किए और भारत के विरुद्ध मुहिम छेड़ दी और लगभग 11 वर्षो तक उनको इसके परिणामस्वरूप जेल मे रहना पड़ा। इसका सहारा लेकर अब पाकिस्तान ने 1953 के प्रस्तावो का राग अलापना शुरू कर दिया लेकिन शीत-युद्ध की सम्वेदनशील परिस्थितियो मे सयुक्त राष्ट्र सघ मे तत्कालीन सोवियत रूस के 'वीटो' के कारण मामला ज्यो का त्यो बना रहा। शीत युद्ध के दौर मे महाशक्तियाँ अपने-अपने कार्यों मे व्यस्त थी और कोई भी इस मामले को गम्भीरतापूर्वक सुलझाना नही चाहता था। ऐसी हालत मे पाकिस्तान मे प्रजातन्त्र की जड़े जम नही पाई और यहाँ या तो प्रजातान्त्रिक जन-प्रतिनिधियो का तख्ता पलट दिया गया या उनकी हत्या कर दी

गई। क्रमश सेना ने पाकिस्तान को शासित और निर्देशित करना शुरू कर दिया। इस पूरी प्रक्रिया मे जनरल अयूब की जडे मजबूत होती जा रही थी। वही दूसरी ओर साठ के दशक के आते-आते सामन्तवादी ताकते उनसे नाखुश हो चली थी और नियन्त्रित प्रजातन्त्र के कारण नौकरशाही मे भी उनके प्रति असन्तोष, और गुस्से का आलम बन गया था। इसलिए यह माना जाता है कि तत्कालीन विदेश मन्त्री जुल्फीकार अली भुट्टो ने कश्मीर के नाम पर भारत से पाकिस्तान की दूसरी जग के लिए जनरल अयूब को तैयार किया। इन तथ्यो की जानकारी मीडिया के माध्यम से तत्कालीन सैन्य एव राजनीतिक दस्तावेजो के प्रकाश मे आने से होने लगी है। इन दस्तावेजो से पता चलता है कि पाकिस्तान की सैन्य रणनीति का लक्ष्य नियन्त्रित रूप से घुसपैठियो को भेजने, राजनीतिक और भौगोलिक रूप से कश्मीर मे उथल-पुथल मचाने और अन्तत कश्मीर को हथियाने का मन्सूबा बनाया गया था।

तब तक भारत का नेतृत्व नेहरू जी के देहान्त के बाद शास्त्री जी के हाथ मे आ गया था। इस नेतृत्व ने पाकिस्तान के इस मन्सूबे को जड़ से ध्वस्त कर दिया। उस जग को भारत ने सिर्फ कश्मीर तक सीमित न रखते हुए पाकिस्तान की धरती पर लाहौर तक फैला दिया। लेकिन बावजूद इसके यह जग भी कश्मीर के मुद्दे पर अनिर्णायक सिद्ध हुई, पर यकीनन इसने पाकिस्तान के छद्म अह को धूल-धूसरित कर दिया। इसके बाद जनरल याह्या राजनीतिक और प्रशासनिक रूप से कमजोर पड गए। जनरल अयूब खान ने बिना शक्ति प्रयोग के उन्हे हटाकर पाकिस्तान का नेतृत्व सेनाशाही के रूप मे अपने हाथ मे ले लिया। माना जाता है कि जनरल अयूब के नेतृत्व मे भारत के साथ हुआ दूसरा युद्ध भुट्टो की चालो का एक हिस्सा था जिसके मूल मे जनरल अयूब से मुक्ति पाने की उनकी इच्छा थी लेकिन कश्मीर मुद्दे पर पाकिस्तान की मुश्किले यही खत्म नही हुई। पाकिस्तान मे सत्ता मे याह्या खान के आने के बाद पाकिस्तान के 'द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त' का खोखलापन तब और भी स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आया जब पाकिस्तान के निर्णायक आन्तरिक चुनावो मे तत्कालीन पूर्वी-पाकिस्तान की अवामी लीग को 90 प्रतिशत मत मिले और पाकिस्तान मे भुट्टो की 'पीपुल्स पार्टी' सत्ता मे आ गई। उन चुनावो के परिणामो के आधार पर 'अवामी लीग'

का नेतृत्व पूरे पाकिस्तान पर होना चाहिए था जो याह्या खान और भुट्टो को स्वीकार्य नही था। इसकी परिणति बाद मे 1971 में भारत के हाथो मे पाकिस्तान की शर्मनाक हार और बांग्लादेश के निर्माण के रूप मे हुई। इसके बाद भारत की त्वरित और सतत् प्रगति एव खुशहाली की नई प्रक्रिया और विभिन्नता मे एकता कभी भी पाकिस्तान को रास नही आई क्योकि जहाँ उसे एक ओर यह विश्वास हो चला था कि युद्ध का सहारा लेकर वह भारत से कश्मीर को छीन नही सकता, वही दूसरी ओर उसे स्वय अपने कमज़ोर वजूद के मायने खतरे मे दिखने लगे थे। पाकिस्तान की इच्छाओ के विपरीत भारतीय सविधान के दायरे मे भारत के एक महत्वपूर्ण अग के रूप मे कश्मीर की जडे गहरी होती गई और वहाँ राजनीतिक पार्टी 'नेशनल कांफ्रेस' कश्मीरीयत का प्रतिनिधित्व करती रही। यही वजह थी कि जब 1977 के भारतीय आम चुनावो मे प्राय सम्पूर्ण उत्तर भारत मे जनता ने 'जनता पार्टी' को स्वीकारा उस स्थिति मे भी कश्मीर मे 'नेशनल काफ्रेस' का वर्चस्व बना रहा। बदली हुई अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो मे अस्सी के दशक के आते-आते जब अफगानिस्तान मे रूस का सैन्य कब्ज़ा हो गया तो इसने न सिर्फ अमेरिका को अन्तर्राष्ट्रीय और नीतिगत स्तर पर चुनौती दी बल्कि अमेरिका को पाकिस्तान के 'उपयोग' हेतु बाध्य कर दिया। परिणामस्वरूप कालान्तर मे हमे अफगानिस्तान मे 'खूनी-गृहयुद्ध' देखने को मिला जिसकी रूपरेखा अमेरिकी आधारो पर पाकिस्तान द्वारा बनाई और व्यवहृत की गई थी। यह जिया-उल-हक का पाकिस्तानी दौर था जिसमे जिया-उल-हक पाकिस्तान का इस्लामीकरण कर चुके थे। धीरे-धीरे जिया-उल-हक ने पाकिस्तान की पूरी राजनीतिक सरचना ही बदल डाली और कश्मीर के परिप्रेक्ष्य मे उन्होने अफगानिस्तान मे रूस के खिलाफ अमेरिका से सौदा किया। इस पूरी प्रक्रिया के कुछ खास पहलू थे। पहला तो यह कि पाकिस्तान ने अफगानिस्तान को भारत-नीति का कभी समाप्त न होने वाला नीतिगत आधार माना और इसका सहारा लेकर 'ऑपरेशन टोपेक' के तहत आतकवादियो की घुसपैठ प्रारम्भ करा दी गई। इसलिए 1986 के कश्मीर के आम चुनावो मे जब सत्ता मे पुन आई 'नेशनल काफ्रेस' के अध्यक्ष फारुख अब्दुल्ला पर जालसाजी के झूठे आरोप लगाए गए तो इसे सिरे से नकार दिया गया। वास्तव मे

1986 तक कश्मीर मे पाक प्रायोजित अलगाववादी ताकते इतनी मजबूत हो चुकी थी कि अपने आप को सचालन के सन्दर्भ मे आसानी से अफगानिस्तान के जंगी कमान से जोड सकती थी। वस्तुत इसके कर्त्ता-धर्ता जिया-उल-हक थे। 1990 के बाद जब रूस अफगानिस्तान मे हार गया और एक सघ के रूप मे उसका पतन हो गया तो विश्व स्तर पर यह मान्यता ज़ोर पकडने लगी कि धर्मनिरपेक्षता, बहुलतावाद और प्रजातन्त्र की जीत होगी, वही पाकिस्तान इन परिस्थितियो मे अपने तथाकथिक 'जेहादी कमाण्ड' के माध्यम से अफगानिस्तान का सहारा लेकर कश्मीर को हथियाने का प्रयास करता रहा। उसके इन प्रयासो के दो पहलू थे। पहला—पाकिस्तान के लिए अफगानिस्तान को एक रणनीतिक निरन्तरता के रूप मे स्थापित रखना और दूसरा—कश्मीर मे बहुसख्यक मुलसमानो को इस्लाम के नाम पर जिहादी बनाना। लेकिन शीतयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् बदली हुई विश्व परिस्थितियो मे अमेरिका कश्मीर के सन्दर्भ मे अपनी सक्रियता, भूमिका और हितो को 'जस्टिफाई' नही कर पा रहा था। इसलिए वह अब समय-समय पर पाकिस्तान को तथाकथिक 'जेहादियो' से अलग रहने की राय भी देने लगा और प्रत्यक्षत कश्मीर के सन्दर्भ मे पाकिस्तान की सहायता से सदैव दूर ही रहने लगा। 90 के मध्य से ही अफगानिस्तान मे तालिबान और अल-कायदा की जडे मजबूत होने लगी थी और दुनिया पर अप्रत्यक्षत लेकिन गम्भीर रूप से एक 'जेहादी इस्लामी' खतरा मन्डराने लगा था जो कही न कही से पाकिस्तान के लिए अफगानिस्तान की 'रणनीनिक निरन्तरता' वाले बिन्दु से जुड़ा हुआ था। यही कारण है कि 'कारगिल-युद्ध' से 'आगरा बैठक' तक पाकिस्तान के नए हुक्मरान अपने पूर्ववर्तियो की कश्मीर नीति पर इस कदर मस्त थे कि वो इस मुद्दे पर टस-से-मस नही होना चाहते थे। 11 सितम्बर की घटना ने इस ड्रामे पर से पर्दा ही उठा दिया। तालिबान को अफगानिस्तान से हटा दिया गया। अल-कायदा को बरबादी के कगार पर पहुँचा दिया गया और यह सब स्वय अमेरिका द्वारा किया गया। तब से अब तक इस पूरे प्रकरण मे किसने क्या खोया और क्या पाया, यह देखना दिलचस्प होगा। इस दौरान तथाकथित 'जेहाद' के खिलाफ रहने वाले लगभग 5 लाख लोग बेघर कर दिए गए जिनमे से अधिकाश अब शरणार्थी शिविरो मे जीवन बिता रहे हैं।

कुछ बेमौत मर गए और इस बीच पड़ोस, रिश्तेदारी, घर-गृहस्थी, आपसी बन्धन, सामाजिक बुनावट, सब तार-तार हो गए। जो लोग बेघर हो गए उनकी भाषा, संस्कृति और पारम्परिकता मर रही है। पाकिस्तान को इस सन्दर्भ मे सकारात्मक ढंग से सोचने की आवश्यकता है, अन्यथा 1971 एक बार फिर भस्मासुर बनकर सिन्ध प्रान्त के साथ कोई मजाक कर सकता है।

17

वर्तमान से सीख

> *गुजरात विधान सभा चुनाव के तत्जनित निष्कर्ष एक विखण्डित समाज की प्रस्तुति मे कितने ही सक्षम और प्रामाण्य क्यो न दिख रहे हो लेकिन यह भी एक वास्तविकता है कि कभी भी ये भारतीयता की मुख्य धारा को प्रभावित नही कर सकते।*

सन 2002 भी अन्तत अतीत बन गया, लेकिन इसने न सिर्फ पूरी दुनिया को झॅकझोर दिया बल्कि भारत भी इसके तूफानी झझावातो से बचा नही रह सका। इसने बार-बार विस्मयकारी अभूतपूर्व और अकल्पनीय घटनाओ के द्वारा वैश्विक स्तर पर उथल-पुथल मचाकर बहुरगी और बहुरूपी बौद्धिकता को नए सिरे से पूँजीवाद, धर्म, मीडिया और समाज तथा सस्कृति के विश्लेषण को विवश कर दिया है। ऐसा प्रतीत होने लगा है कि जब 'पश्च-पूँजीवाद' के तत्वो ने व्यक्ति के सारे सहारे छीन लिए, आधार तोड दिए और परछाइयो की दुनिया बनाकर व्यक्ति को लक्ष्यहीन भूल-भूलैयो मे भटका दिया तो विवश होकर वह गाहे-बगाहे परछाइयो के माध्यम से विश्वोत्तर अदृश्य और कल्पित-कथित आयामो को ही जीवन के आधारभूत सत्यो के रूप मे स्वीकारने लगा है। लेकिन परछाइयो का क्या' यही कारण है कि एक सतुलित,

सुस्थिर और सुदीर्घ प्रक्रिया के माध्यम से जिस समाज के ताने-बाने को बुना गया था उस समाज की मौलिकता और इसकी सततता की पूर्वाश्यकताओ की यदि अनदेखी की जाए तो फिर ताने-बाने का कमजोर होना और टूटना अस्वाभाविक नही है। पर समाज का वह ताना-बाना है क्या?

भारतीय समाज मूलत चार सामाजिक-सास्कृतिक वास्तविकताओ पर आधारित है। ये वास्तविकताएँ सम्पूर्णतावाद, सस्तरण, निरन्तरता तथा पारलौकिकता के रूप मे स्थापित है। इन्ही के मध्य इसने समय-समय पर अनेक धार्मिक (इस्लामी तथा पाश्चात्य) सभ्यताओ-संस्कृतियो की धाराओ का सामना किया और अन्तत इनकी महान् परम्पराओ को अपनी महानतम् परम्पराओ मे सम्मिलित कर स्वय को समृद्ध किया और एक ऐसी नवीन सम्मिश्र भारतीय सस्कृति की रचना की कि उसके ताने-बाने अब तक किसी भी आक्रमण से (चाहे वो परछाइयो के हो या भौतिकता के हो) ढीले और कमज़ोर नही हुए हैं। रह-रहकर ये हमारे दैनिक जीवन के विशिष्ट तत्वो और प्रकृति तथा सस्कृति के सुन्दर समन्वय मे झलकता है। इसके उत्तम उदाहरण हमे 13वी-14वी शताब्दी के भक्ति आन्दोलन, जिसकी 'ओवर अर्चिंग' सम्पूर्ण भारत मे विभिन्न प्रदेशो मे हुई, के रूप मे देखने को मिलते है। इसने भारतीय समाज मे व्यापक रूप से एक सामान्य एव सम्मिश्र सस्कृति का निर्माण किया जिसने आगे चलकर मध्यम वर्ग को राष्ट्रीय आन्दोलन का एक सशक्त एवं सक्षम अभिकरण बना दिया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् इसी 'सामान्य एव सम्मिश्र सस्कृति' ने प्रजातान्त्रिक और सस्थागत संरचनाओ की जड़ो को भी शक्ति प्रदान की और उनका यहाँ के बहुलतावादी परिवेश में स्थापित होना सम्भव किया। अपनी विराट और बहुआयामी प्रकृति के कारण न तो ये (वास्तविकताएं) अन्ध-धार्मिकता तथा धार्मिक-कट्टरवाद के सम्मोहन मे भारतीय समाज को फँसने देती है और न ही पूँजीवाद का मायावी तिलिस्म इसके दर्प को धुधला कर पाता है। इसलिए यह एक व्यापक जीवन-शैली बनने के साथ-साथ भविष्य को जानने-समझने का एक साकेतिक स्रोत और सामाजिक-सास्कृतिक परिवर्तनो पर सकारात्मक नियन्त्रण का साधन भी बन जाती है। लेकिन वर्तमान आर्थिक राजनीतिक परिवेश मे भविष्य के प्रारूपो के

निर्माण के सन्दर्भ मे इसका प्रयोग करने की कोई आवश्यकता प्रतीत नही होती क्योकि परीक्षण की कसौटी पर इसे कस कर और विखण्डित कर न तो हम अपने सपनो का भारत बना सकते है और न ही उसके समाज के परम्परागत आधारो को शक्ति प्रदान की जा सकती है।

प्रजातन्त्र का 'विखडनवाद' प्रजातन्त्र के विरोधाभासी स्वभाव के दुष्प्रभाव मे कुछ दूर तक तो चल सकता है, शक्ति-अर्जन का एक क्षणिक स्रोत तो बन सकता है, लेकिन यह एक सर्ववाछित सम्पूर्ण रास्ता या लक्ष्य कभी भी नही बन सकता। गुजरात विधान-सभा चुनाव के तत्जनित निष्कर्ष एक विखण्डित समाज की प्रस्तुति मे कितने ही सक्षम या प्रामाण्य क्यो न दिख रहे हो, लेकिन यह भी एक वास्तविकता है कि कभी भी ये भारतीयता की मुख्यधारा को प्रभावित नही कर सकते। साथ ही यह भी एक वास्तविकता ही है कि उत्साहित सत्ता सचालक आभिजात्य वर्ग भी इससे आतकित रूप से प्रसन्न नही है क्योकि यह की भारत को सुदीर्घ, सुस्थापित और प्रशसित, समन्वयकारी परम्परा का अनुकरण नही करते है। फिर भी ऐसा हुआ क्यो? मीडिया और 'एक्जिट पोल' आदि जैसे सक्षम तकनीकी साधन भी गुजरात मे सही-सही पूर्वानुमान नही लगा सके तो आखिर क्यो? समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से जब हम इसका विश्लेषण करते है तो यह कोई मुश्किल कार्य नजर नही आता। क्योकि सरचनाएँ परस्पर टकराती भी है और सरचनाएँ ही एक दूसरे की सहायक भी बन सकती है। भारत-विभाजन के पश्चात राष्ट्रवाद के ठोस आधारो से वचित पाकिस्तान का निर्माण भारतीय मुसलमानो के लिए एक सीमा तक दु खदायक ही रहा है। अब तक का पाकिस्तान एक दुर्व्यस्थित, अराजक और कुठित पाकिस्तान रहा है जिसने कभी यह नही चाहा है कि भारतीय मुसलमान प्रगति और खुशहाली की नई ऊँचाईयाँ चढ कर पाकिस्तान के धर्माधारित छद्म राष्ट्रवाद को भी अस्तित्वहीन कर दे। इसलिए यह आवश्यक और व्यावहारिक प्रतीत होता है कि पाकिस्तान भी सुसम्पन्न और समृद्ध बने ताकि उसके अभाव बोधो और जलनशील प्रवृत्तियो के दुष्प्रभाव भारतीयो पर न पडे। पाकिस्तान निरन्तर भारतीय और भारतीय मुसलमानो के परिप्रेक्ष्य मे एक गन्दी भूमिका निभाता रहा है। लेकिन यह भी एक दु खद सच्चाई है कि स्वय भारत के

मुस्लिम बुद्धिजीवियो ने अब तक इसे समझने और लोगो के समक्ष लाने मे जिस नासमझ चुप्पी, एकागिकता और हठधर्मिता का परिचय दिया है, उसने भारत के बहुलतावादी और सम्मिश्र सास्कृतिक वातावरण मे 'मुस्लिम मानस' के विश्लेषण को दुरूह बनाया है। इस सम्बन्ध मे हमारी मान्यता है कि बुद्धिजीवी नेतृत्व (मुल्ला, पण्डित, काजी को छोडकर), जिसका मीडिया और सचार के साधनो पर वर्चस्व है, जो प्राय वादो-विवादो मे भाग लेता रहता है, ने अपने नैतिक कर्तव्य का निर्वहन प्राय न के बराबर किया है। वर्षों पूर्व जब कश्मीर मे 'अतिवाद' और 'आतंकवाद' आकार लेने लगा था और 'सिमी' जैसे सगठन पनपने लगे थे, तब मुस्लिम-साक्षरता, 'शाहबानो-प्रकरण' या 'परिवार-नियोजन' आदि जैसे राष्ट्रीय और मानवीय मुद्दो को भी मुस्लिम बुद्धिजीवियो ने राष्ट्रीय दलो का हिन्दुत्ववादी प्रतिनिधि समझा।इसके कारण उसने दूरगामी परिणाम ला सकने वाले राष्ट्रीय हित के अति सवेदनशील भारतीय सम्मिश्र सस्कृति को नकार दिया। समय-समय पर किए जाने वाले इनके अनर्गल प्रलापो से तो कभी-कभी ऐसा लगने लगता है कि रजिशो से भरपूर ये शिकायतो के दफ्तर ही खोल चुके है। शिकायते भी हो सकती हैं और शिकायतो का होना स्वाभाविक भी है, लेकिन स्वय अपने समुदाय-सस्कृति और राष्ट्र के वृहद् हित मे मुस्लिम नेतृत्व (बौद्धिक के साथ-साथ राजनीतिक भी) का यह दायित्व बनता था कि वह अपने तार्किक और व्यावहारिक योगदानो के माध्यम से समाज को कूपमडूकता और अनिश्चितता से बाहर निकाले। लेकिन वे असफल ही रहे क्योंकि जिस सोच और विचारणा की आड मे भारत-विभाजन हुआ और प्रारम्भ से ही जिस नकारात्मक उद्देश्य के तत्वावधान मे पाकिस्तान के सैन्य शासको ने भारत के प्रति अपना कुत्सित एजेण्डा तय किया हुआ है, उसमे दो बाते न सिर्फ स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती हैं बल्कि इसके लिए 'कार्यक्रम निर्माण' पाकिस्तानी नेतृत्व ने तैयार भी किया हुआ है। इसमे यह प्रकरण कि हिन्दू स्वभावत आक्रामक कार्यक्रम नही बनाते हैं बल्कि आक्रमण की दशा मे आत्मरक्षा और अपनी आतरिक सरचनाओ मे ही उलझने लगते हैं, इसलिए आक्रमण का एजण्डा बनाकर हिन्दू समाज के साथ-साथ भारत को भी अस्त-व्यस्त, परेशान और कमजोर बनाया जा सकता है।साथ ही ये भी

कि भारत के सन्दर्भ मे पाकिस्तान के आक्रमण के एजेण्डे पर भारत के मुस्लिम बुद्धिजीवियो की चुप्पी और अतिवादी हिन्दु तत्वो की उभरती अति आक्रामक प्रवृत्ति ने समय-समय पर उन परिस्थितियो को जन्म दिया है जिनमे आज के 'गुजरात-चुनाव परिणाम' उभरते रहे है और इसलिए हम सारी सरचनाओ को एक दूसरे का पूरक मानते हैं। यह अलग बात है कि गुजरात की वर्तमान परिस्थितियो पर यदि तीक्ष्ण दृष्टि डाली जाए तो अन्य चित्रो के साथ हमे राजनीतिक-अर्थव्यवस्था के भी कुछ जटिल तत्व दिखाई देगे। अतीत मे ब्याज पर पैसा बाँटने वाला साहूकार वर्ग मुख्यत हिन्दू था और शोषण होने के बाद भी पिछडे और दलित वर्ग वर्गीय और आर्थिक तनावो से उपजी हताशा, निराशा और कुण्ठा की धार्मिकता के दायरे मे गुजरात के परम्परागत सामाजिक, आर्थिक एव राजनीतिक समीकरणो मे पर्याप्त मात्रा मे परिवर्तित हुए हैं। खाडी के पैसे ने जहाँ कुछ मुसलमानो को नव-धनाद्य बनाकर 'हिन्दू साहुकारी' की वर्चस्वशाली राजनीतिक सरचना के समानान्तर एक चुनौती के रूप मे खडा कर दिया है, वही इसका भरपूर प्रभाव पूँजीवाद, धर्म और अतिवाद की साँठ-गाँठ से उभरी उबड-खाबड जमीन पर भी पडा है। अभूतपूर्व सक्रमणशील दशाओ मे गुजरात की जनता को कुटिल राजनीतिज्ञो की आवश्यकता नही थी बल्कि सम्मिश्र सस्कृति के प्रतिनिधि उन तत्वो को रगमच पर भरपूर ऊर्जा के साथ आना चाहिए था जो आने वाली पीढियो के लिए एक बेहतर और एकता वाले सुखद सामाजिक परिवेश का सुगठित आधार निर्मित करने की दिशा मे प्रयास करते, न कि बँट रहे लोगो की दूरियाँ और फैलाते जा रहे राजनीतिज्ञो को अपनी मूक बधिरता से प्रोत्साहन देते। वैसे भी सक्रिय मानवीय बौद्धिकता तेजी से लुप्त होती जा रही है, वर्ना वकील फैज

"हर चारागर को चारागरी से गुरेज था,
वरना हमारे दु ख तो बहुत ला-दवा ना थे।"

हम यह आशा करते हैं दोनो पक्षो से, चारो दिशाओ से सम्मिश्र सस्कृति, आम सदाशयतापूर्ण जीवन, प्रकृति धर्म और मानवता के ताने-बाने को समझने वाले लोगो को अपनी परम्परागत झिझक मिटाकर साहस के साथ मीडिया और सार्वजनिक

संस्थाओ के साथ मिलकर आगे आना होगा, तभी भारतीयता और मानवता के गौरवपूर्ण अध्याय सुरक्षित और जारी रह पायेगे, तभी समाज का भविष्य वास्तविकता के धरातल पर खडा हो पाएगा और किसी बुरी परछाई के साये मे आने से बच सकेगा। अभी भी कोई बना ले तो उतनी बिगड़ी नही है बात। अन्यथा हमे डर है कि धर्म की आड़ मे गुजरात के चुनावी परिणामो से प्रभावित होकर कही ऐसे नकारात्मक तत्व हिन्दुत्ववादियो मे भी न उभरने लगे जो मुस्लिम राजनीति मे अब तक पाये जाते रहे है। यह दुर्भाग्यपूर्ण होगा। भारत की एक विस्तृत और विशाल सभ्यता सस्कृति है और इस दृष्टि को सभी धाराओं के साथ लिए बँटना है जिससे प्रत्येक धारा को उसका किनारा मिल सके। परस्पर मिलकर ही मानवतावादी लक्ष्यो को पाया और अपनी गरिमा को बचाया जा सकता है। यह समय की माँग भी है।

तृतीय भाग

निबन्ध-सग्रह के तृतीय एवं अन्तिम भाग में वैश्विक परिवर्तन की विद्यमान प्रवृत्तियों, जिनमे 'ज्ञान' और 'मॉडर्न प्रोजेक्ट' की विसगतियाँ साफ दृष्टिगोचर हो रही हैं और इनकी प्रतिगामी प्रक्रियाओ से 'पैराडाइम-शिफ्ट' से लेकर 'युग परिवर्तन' के बिन्दु जन्म ले रहे हैं, को विषयो एव ज्ञान की प्रासगिकताओ एवं व्यवहारिकताओ वाले दृष्टिकोण के साथ समझने के प्रयास किए गए हैं। सरसरी तौर पर हालाँकि ये निबन्ध व्यापक कलेवर वाले प्रतीत होते हैं तथापि इनमे सूक्ष्मानवेषण के तत्त्व भी विद्यमान हैं।

18

रंग बदलती दुनिया

इस दुनिया मे जो चिरस्थाई चीज है वह है शक्ति और वर्चस्व तथा इनसे बनती, बुनती संरचनाएँ जिनकी आधारशिला राजनीतिक अर्थव्यवस्था रखती है। इसके पीछे पूँजीवाद, चाहे वो जिस रूप मे हो, की अपरिमित शक्ति है और ये शक्ति हमेशा उन्ही देशो मे रहेगी जिनकी सरचनाओ पर प्रवजक समाजो की ज्यादा परछाइयाँ होगी। ऐसे समाजो की जड़ें इनके इतिहास मे गहरी नही होती हैं पर वे इतिहास से पल्ला भी नही झाड़ पाती हैं।

एक विषय-वस्तु के रूप मे 'सामाजिक परिवर्तन' सदैव ही समाजशास्त्रियो के लिए एक अचम्भा रहा है क्योकि तमाम प्रयासो के बावजूद आज तक न तो 'सामाजिक परिवर्तन' की दिशा का अनुमान किया जा सका है और न ही इसकी गति ठीक-ठाक मापी जा सकी है। यहाँ तक कि समाज-विशेष के सन्दर्भ मे परिवर्तन किस रूप मे आ रहा है, यथा यह प्रगति है या अधोगति, उद्विकास है या क्रान्ति, आदि को भी निर्धारित करना अब तक दुरूह ही प्रतीत हुआ है। इसलिए परिवर्तन चूँकि भविष्य से

सम्बन्ध रखता है, इसलिए समाजशास्त्री अधिक से अधिक इसके 'आकार' या 'परछाइयो' की समझ से आगे नही बढ सके हैं। अभी यह निर्धारित नही हो सका है कि परिवर्तन की प्रकृति एकरेखीय है या अर्धवृतीय, सर्पिल अथवा वृतीय। प्राचीन काल से लेकर अब तक के समाजो मे भारतीय सामाजिक चिन्तन ही एकमात्र ऐसा चिन्तन रहा है जिसने ठोस तथा आधिकारिक रूप मे परिवर्तन की प्रकृति को वृतीय माना है और इस परिप्रेक्ष्य मे कालचक्र की अवधारणा प्रस्तुत की है। इस आधार पर इतिहास स्वय को दोहरा भी सकता है एव इसे युगो के वृहद् खण्ड पर रखकर हम एकरेखीय भी समझ सकते हैं। इस दृष्टिकोण से इसके विश्लेषण के प्रयास बहुत उलझे हुए प्रतीत नही होते हैं। पश्चिमी चिन्तन प्रक्रिया और प्रणाली परिवर्तन की उलझी हुई प्रकृति के सम्बन्ध मे अब तक कई सिद्धान्त और उप-सिद्धान्त प्रस्तुत कर चुकी है लेकिन बौद्धिकता और व्यावहारिकता के धरातल पर अब तक का अनुभव यही रहा है कि युग या काल-खण्डो के परिवर्तन के साथ ही ये अपूर्ण, अव्यावहारिक और अप्रासगिक हो जाते रहे है। इससे सलग्न यह प्रश्न और चिन्ता उभरती है कि किस आधार पर 'सोशल कम्प्रीहेन्शन ऑफ बीइग' को विश्लेषित किया जाए। वस्तुत यह इतिहास की गति के सिद्धान्त को जानने की प्रक्रिया है। मार्क्स ने इस गति को 'द्वन्द्व' के माध्यम से देखने-समझने के प्रयास किए है जबकि प्रकार्यवादियो यथा दुर्खिम, पार्सन्स आदि ने इसे 'सन्तुलन' मे देखा है। अल्थ्यूजर जहाँ इसे सरचनाओ के निर्माण और उनकी टकराहट के माध्यम से स्पष्ट करने की चेष्टा करते हैं तो वही फूको 'प्रभुत्व' को ही इतिहास का सार मानते हैं। इन सारी चर्चाओ मे हमे फूको का 'शक्ति और प्रभुत्व' का सिद्धान्त ही खरा दिखता है क्योकि इस पैरॅडाइम के सहारे हम इस रग बदलती दुनियाँ को जानने के अपेक्षाकृत अधिक सफल प्रयास कर सकते है।

अफगानिस्तान मे तालिबानियो पर हुए अमेरिकी हमले को हुए अभी बहुत दिन नही बीते लेकिन तब से अब तक हमने देखा है कि कथित धुन पर अधिकाश दुनिया थिरक रही है लेकिन अब तक न तो कही उमर पकड़ा गया और न ही ओसामा

का ही कुछ अता-पता चल पाया है। इस अधूरे युद्ध की एक नई विशेषता बुश की कोप-दृष्टि मे इराक का आ जाना है। इरान और उत्तर कोरिया के साथ इराक को भी 'दुष्टता की धूरी (एक्सिस ऑफ एविल)' मे शामिल कर अमेरिका ने 'आतंक के विरुद्ध युद्ध' को एक नया आयाम दे दिया है। हाल तक आतक के कारखानो के देश अफगानिस्तान की धरती पर शुरू हुए 'आतंक के विरूद्ध युद्ध' के बुलबुले अरब के तेल के कुओ मे उभरने लगे हैं। सऊदी अरब के बाद इराक के पास सर्वाधिक सरक्षित तेल भण्डार है और 'आतक के विरुद्ध युद्ध' मे इसका एक विशेष अर्थ है। यदि कश्मीर मुद्दे पर अमेरिका भारत का साथ नही देता और तानाशाह मुशर्रफ की मुश्के नही कसता तो इसमे कुछ भी रहस्य नही है। अरब की धरती उसके लिए अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण है और पाकिस्तान-अफगानिस्तान जैसे लचर देश अमेरिकी बन्दूको के लिए कन्धे है। यह सर्वविदित है कि इरान और इराक को छोडकर सभी तेल सम्पन्न अरब देशो पर अमेरिका का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष नियन्त्रण है। ऐसे मे 'इराक और इरान' यदि दुष्ट राष्ट्र घोषित कर दिए जाते है तो इसमें कैसा आश्चर्य! यह बात तो अब एक भयकर और खुली वास्तविकता के रूप मे शनै -शनै विश्व रगमंच पर छाने लगी है, लेकिन अमेरिका के इस रणनीतिक दृष्टिकोण मे यूरोप भला क्यो साझीदार होने लगा? अब बदलती हुई विश्व परिस्थितियो मे 'नाटो' का कोई विशेष महत्व नही रहा और यूरोपीय संघ क्षेत्रीय स्थायित्व के लक्ष्य पर अधिक केन्द्रित है। अब यूरोप भी अमेरिका को 'सर्वोच्च शक्ति' मानकर इसके मायाजाल से दूर ही रहना चाहता है। जहाँ उनके लिए 'श्वेत रग' अभी महत्वपूर्ण रूप से प्रासगिक है, वही वह तो दैनिक जीवन की पारस्परिक अन्तर्क्रियाओ की लेन-देन से दामन नही छुड़ा पा रहे हैं। अमेरिका की नई व्यावहारिक परिकल्पना और तदर्थ सहयोगियो ने अप्रत्यक्षत यूरोप को एक नई चेतावनी भी दे डाली है। सी.आई.एफ की जाँच निगरानी के दायरे मे बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ और व्यापार जगत भी आ गया है जो यूरोप को कतई गवारा नही है। फ्रास, जर्मनी आदि बड़े देश ब्रिटेन को लगातार इस बात पर राज़ी करने मे लगे हैं कि यूरोप की समग्र एकता मे ही यूरोप के सभी देशो का हित निहित है। स्वभावत यह इराक पर सम्भावित हमले की दिशा मे आम सहमति बनाने के

अमेरिकी प्रयासो के विपरीत है, लेकिन इस सम्पूर्ण मुद्दे का सर्वाधिक विवादास्पद पहलू यह है कि ऊर्जा के ससाधनो पर नियन्त्रण का मामला वे भी ब्रिटेन के साथ-साथ अमेरिका के हवाले कर देते हैं।

यह इस उदाहरण से भी साफ हो जाता है कि तत्कालीन सोवियत सघ ने 1989 के बाद उन सभी राज्यो को मुक्त कर दिया जिसे 1917 के बाद स्टालिन ने अपने अधिकार मे ले लिया था, चाहे वो तजाकिस्तान हो, युक्रेन, जार्जिया या कजाकिस्तान। लेकिन क्या कारण है कि कभी न घुलने-मिलने के बावजूद चेचेन्या आज भी इसका एक हिस्सा है जबकि वह राज्य जो न्यूनाधिक रूप से सोवियत सघ की राष्ट्रीय सस्कृति मे मिल गए थे और अपनी सास्कृतिक जड़ो से कट गए थे, वे मुक्त कर दिए गए। कारण विश्व के मानचित्र पर दृष्टि डालने से पता चल जाएगा। चेचेन्या के साथ कैस्पियन-सी, महत्वपूर्ण रास्ते, पाइप लाइने और शक्ति स्रोतो की सम्भावना ही वो प्रेरक तत्त्व हैं जो रूस को चेचेन्या से अलग हो जाने की अनुमति देने से रोक देते हैं। अपने विशिष्ट प्रयासो से पिछले कई दशको के दौरान 'नाटो' ने चेचेन्या को रूस से घुलने-मिलने ही नही दिया। यहाँ तक कि 11 सितम्बर के बाद हाल ही मे घटा 'थियेटर काण्ड' भी अमेरिका द्वारा खुला और प्रत्यक्ष आतकवाद की श्रेणी मे नही रखा गया। यहाँ भी मामला तेल का ही था। इसलिए इस रग बदलती दुनिया मे जहाँ सीमित और चयनित संसाधनो को नियन्त्रण मे लेने के लिए कुछ सक्षम देश समय-समय पर प्रजातन्त्र, मानवाधिकार, अन्तर्राष्ट्रीय कोष और पर्यावरण आदि जैसे स्वनिर्मित चोचलो का कुत्सित प्रयोग करते रहते हैं। ये प्रयोग इन वर्चस्वशाली देशो की तमाम गलतियो और बदनियतियो को ढँकने का प्रयास करते हैं। वरना क्या कारण था कि इसी अमेरिका की नाक के नीचे अर्जेन्टिना कर्ज के बोझ तले दबा सिसक रहा है और अमेरिका का सारा ध्यान तुर्की मे करोड़ो डॉलर पम्प करने मे लगा है। सचार माध्यमो के द्वारा अब ये बात भी सामने आ रही हैं कि कई वर्षो पहले सूडान ने अमेरिका को ओसामा को पेश करने का प्रस्ताव दिया था, लेकिन पता नही क्यो अमेरिका ने सूडान को निर्देश दिया कि वह ओसामा को सउदी अरब को सौंप दे। परन्तु सउदी अरब ने उस पर मुकदमा न चलाकर उसे अफगानिस्तान

निर्वासित कर दिया। आगे की कहानी सबको पता है। इस सम्पूर्ण घटनाक्रम मे एक महत्वपूर्ण बात इस रूप मे सामने आई है कि अमेरिका की प्राथमिकताओ और लक्ष्यो मे ऊर्जा के स्रोतो पर अधिकार की भावना के बारे मे एक विपरीत विश्व-जनचेतना बनने लगी है। इसलिए 1991 मे लड़ा गया खाड़ी युद्ध अबकी बार जस का तस नही दोहराया जा सकेगा। ऊर्जा के साधनो पर नियंत्रित स्थापित करने की कड़ी मे ही अमेरिका ने सद्दाम हुसैन को पदच्युत किया ताकि इसके तेल पर नियन्त्रण करने के लिए एक विवश और समर्थक सरकार इराक मे स्थापित की जा सके।

यह सब न्यूनाधिक रूप से एक ही चीज को सापेक्षिक सत्य के रूप मे उभारते हैं कि इस दुनिया मे जो चिरस्थाई चीज है वह है शक्ति और वर्चस्व तथा इनसे बनती, बुनती सरचनाएँ जिनकी आधारशिला राजनीतिक अर्थव्यवस्था रखती है। इसके पीछे पूँजीवाद चाहे वह जिस रूप मे हो, की अपरिचित शक्ति है और यह शक्ति हमेशा उन्ही देशो मे रहेगी जिनकी सरचनाओ पर प्रवजक-समाजो की ज्यादा परछाइयाँ होगी। ऐसे समाजो की जड़े इनके इतिहास मे गहरी नही होती हैं, पर वे इतिहास से पलड़ा भी नही झाड़ पाते। अमेरिका एक ऐसा ही देश है इसलिए उसके हाथ समय-समय पर प्रकृति की रौशनी को धूमिल करते रहते है। ये साए ही अल्थ्यूजर के अनुसार अति सरचनाएँ हैं जो भौतिक सरचनाओ से टकराती रहती है। फिर चाहे वो धर्म और निरपेक्षता के झगड़े हो या वैचारिकी और धर्माख्यानो के विवाद या ज्ञान और विज्ञान का द्वद्वात्मक अन्तर। चूँकि ये एक दूसरे से अलग भी नही हो सकते परन्तु एकीकृत भी नही हो सकते, इसलिए इन्ही की आँख-मिचौली मे परिवर्तन के दौर चलते रहते हैं।

19

पश्च-पूँजीवाद (लेट-कैपिटलिज़्म) का उपोत्पादः आतंकवाद का नया रूप

विश्व मे जितने भी मुस्लिम राष्ट्र हैं उनके शाह-बादशाह आमतौर पर अफगानिस्तान पर अमेरिकी कार्यवाही के समर्थक रहे हैं, वही उनकी जनता इस कार्यवाही से न सिर्फ घबराई हुई है बल्कि इसके मन मे अमेरिका के प्रति एक आक्रामक, हिंसक आक्रोश और नफरत पनपी है। इससे "मुस्लिम उम्मा" का जो मिथक है उसमे दरारे ही दरारे नजर आने लगी हैं। पाकिस्तान, जो कल तक दुनिया-ए-इस्लाम का स्वघोषित प्रणेता बना हुआ था, आज उसके सैनिक शासक मुशर्रफ अपनी कुर्सी बचाने के लिए अमेरिका के साथ जितना खुलकर सामने आए हैं वैसा उदाहरण शायद कम ही मिले। इससे यह सिद्ध होता है कि यदि अमेरिका पाकिस्तान के समक्ष या तो "हमारे साथ या आतकवादियो के साथ" जैसे प्रश्न इतनी आसानी से नही रख पाता जिसमे उसे सोचने तक का मौका नही मिला।

शीत युद्ध की समाप्ति के बाद सम्पूर्ण विश्व एक भूमण्डलीकृत (वैश्विक) ग्राम के रूप मे परिवर्तित तो हो गया है परन्तु इस भूमण्डलीकरण से विश्व या 'विश्व ग्राम' की विषमताएँ पहले की तुलना में न सिर्फ बढ़ गई है बल्कि स्पष्ट रूप से नजर भी आने लगी है। पहले यह माना गया था कि नई विश्व-व्यवस्था मे तमाम मुद्दे और समस्याएँ सुलझ जाएँगी क्योंकि विश्व एक ही सर्वोच्च शक्ति के संकेतो पर करवटे बदलेगा। परन्तु ऐसा हुआ नही। इक्कीसवी सदी के आते-आते इतिहास ने अपने द्वन्द्व विश्व पटल पर फिर से उभारना शुरू किया जिसकी आधारशिला पूँजीवाद द्वारा सोलहवी सदी मे ही रखी जा चुकी थी। आज वही द्वन्द्व नए कलेवरो मे लेकिन उसी नीव पर खड़ा होता दिख रहा है।

1990-92 से अब तक 'पूँजीवाद के स्वरूप' और विश्व को नए दृष्टिकोण से देखने के सन्दर्भ मे कई पुस्तके पर्याप्त रूप से चर्चित हुई है, इनमे 'क्लैश ऑफ सिविलाईजेशन्स', 'डायलॉग विद सिविलाईजेशन', 'एण्ड ऑफ हिस्ट्री ऐण्ड द लास्ट मैन', 'एण्ड ऑफ जियोग्राफी', 'ग्लोबल कल्चर' आदि और ऐसे ही अनेक विचारपरक लेख प्रमुख हैं जिनको विश्लेषित करने के तरीके अलग-अलग थे। जो लोग पुरानी समस्याओ को आज भी आर्थिक सरचना से जोड़कर देखते हैं उनकी मान्यता है कि उत्तर-आधुनिकतावाद का उद्देश्य विश्व का ध्यान इस द्वन्द्व से हटाना है। वास्तव मे विश्व इस समय दो तरह के झगड़ो-बहसो मे उलझा हुआ है। अब जमीन और जायदाद के झगड़े उतने महत्व नही रखते जितने कि ऊर्जा के स्रोत, सूचना-तकनीकी और तकनीक पर वर्चस्व के झगड़े। साथ ही वैचारिकी के वर्चस्वो को स्थापित करने के लिए सूचना-तकनीकी और प्रचार-माध्यमो, साधनो का प्रयोग भी इस क्रम मे महत्वपूर्ण है। लेकिन ये वही लोग हैं जो समाजवाद के सपनो को अभी भी देखने के साथ-साथ विश्व को अमीरी-गरीबी के पैमाने से ही मापने की कोशिशे कर रहे हैं। परन्तु इन पुस्तको के विश्लेषण का एक और भी दृष्टिकोण है जिसका मानना है कि शीत युद्ध की समाप्ति के बाद तथाकथित रूप से वैचारिकी के लुप्त हो जाने से विश्व सन्तुलन गड़बड़ा गया है। इस सन्तुलन के गड़बड़ाने से व्यक्ति और समूह अचानक ही अपनी अस्मिता,

मौलिकता और पारम्परिकता के खो जाने के खतरो से आशकित होकर वापस अपनी जडे सस्कृति के उपमानो मे ढूँढने के प्रयास करने लगे है।

धर्म भाषा और रीति-रिवाज आदि इन जडो के सन्दर्भ मे महत्वपूर्ण रूप से उभरकर सामने आए है। इसलिए बदलते विश्व परिदृश्य मे इससे सम्बद्ध भिन्न सास्कृतिक विचारधाराएँ उभरकर सामने आ रही हैं।

आइए अब 11 सितम्बर 2001 को अमेरिका पर हुए आतकवादी हमलो की पृष्ठभूमि और इनके सन्दर्भो पर एक नजर डाले। इस पूरे घटनाक्रम मे चिन्तन की जो धुँधली लकीरे उभरी है उनसे यह स्पष्ट होता है कि विश्व मे वस्तुत अमेरिका के एक मात्र सर्वोच्च शक्ति होने का मिथक भी उन दो बहुमजली इमारतो के साथ ध्वस्त हो गया। उसके बाद इस सर्वोच्च शक्ति का सर्वोच्च व्यक्ति अपनी राते सुरक्षित बिताने के लिए अज्ञात स्थानो की शरण मे जाने लगा। अभी अमेरिका मे सामान्य जिन्दगी अपने पुराने ढर्रे पर लौटने की अभी कोशिश कर रही थी कि नई आशकाओ ने हर पल नई त्रासदियो और अनहोनियो का वातावरण बनना शुरू कर दिया है। कभी जैविक हमलो के डर कभी ऐन्थ्रैक्स की समस्या, कभी आत्मघाती हमलो के अन्देशे तो कभी व्यक्ति के रग और वेशभूषा विशेष से उपजी परेशानियाँ। परिणाम यह हुआ है कि अमेरिका एक शक्की और आशकित समाज के रूप मे अनचाहे ही अपनी छवि बनाने लगा है जिसमे आत्मबल, धैर्य और आत्मावलोकन की स्पष्ट कमी प्रतीत होती है। अमेरिकी राष्ट्रीयता की दुहाई देना इसे और भी स्पष्ट करता है। सम्भवत पहली बार इतिहास ने विश्व को यह दिखाने की कोशिश की है कि पुराने परम्परागत समाज आज भी कितने दृढ हैं और नये राज्य चाहे कितने भी शक्तिशाली दिखते हो, की जडो मे उतनी मजबूती और स्थिरता नही है जितनी वे प्रदर्शित करते हैं। भारत जैसा पुराना समाज और नया राज्य हमेशा नई-नई अनहोनियो और सदमो से उबरना जानता है —— चाहे वो कश्मीर से तीन लाख से ज्यादा हिन्दुओ का पलायन हो, हजारो की हत्या हो, रोज आतकवादी घटनाएँ हो, पजाब मे मौत का ताण्डव हो, उडीसा का चक्रवात हो, गुजरात का भूकम्प हो —— तब भी देश की मति भग नही होती, देश की गति नही ठहरती जैसा कि अमेरिका मे हुआ।

ऐसा इसलिए है कि हमारे देश मे उत्पादन की शक्तियो के कई रूप और कई स्रोत है। तांगा-रिक्शा से लेकर हवाई जहाज तक परिवहन और यातायात के कई साधन हैं। काम करने के ढग कृषि मजदूरी से लेकर कम्प्यूटर विशेषज्ञता तक विस्तृत है जिसके कई स्तर है। इसके अतिरिक्त अनगिनत अनेकताओ के साथ-साथ ऐसी भी संरचनाएँ हैं जिसमे एक ओर व्यक्तियो-कर्मचारियो को पानी पीने का भी वक्त नही मिल पाता काम की अधिकता से, तो दूसरी ओर ऐसे भी रोज़गार हैं जहाँ फुर्सत ही फुर्सत है। इसके विपरीत विकसित देश जहाँ उत्पादन की पद्धति एक जैसी है, जीवन पद्धति एक जैसी है। जिसे सभ्यता का घर मानकर विश्व के सामने सन्दर्भ के रूप मे प्रस्तुत किया जा रहा हो, वहाँ एक हल्की सी आहट ने लोगो की नीद हराम कर दी है। इसलिए इन चर्चित पुस्तको और लेखो को नए ढग और नए दृष्टिकोण से विश्लेषित करने की आवश्यकता है क्योकि इस विशेष घटनाक्रम ने इस सन्दर्भ मे एक और नया द्वद्व प्रस्तुत किया।

विश्व मे जितने भी मुस्लिम राष्ट्र है उनके शाह-बादशाह आमतौर पर अफगानिस्तान पर अमेरिकी कार्यवाही के समर्थक रहे है, वही उनकी जनता उन कार्यवाही से न सिर्फ घबडाई हुई है बल्कि उनके मन मे अमेरिका के प्रति एक आक्रामक और हिंसक आक्रोश और नफरत पनपी है। इससे 'मुस्लिम उम्मा' का जो मिथक है उसमे दरारे ही दरारे नजर आने लगी है। पाकिस्तान, जो कल तक दुनिया-ए-इस्लाम का स्वघोषित प्रणेता बना हुआ था आज उसके सैनिक शासक मुशर्रफ अपनी कुर्सी बचाने के लिए अमेरिका के साथ जितना खुलकर सामने आए है वैसा उदाहरण शायद कम ही मिले। इससे यह सिद्ध होता है कि यदि मुशर्रफ एक चुनी हुई प्रतिनिधि सरकार के मुखिया होते तो अमेरिका पाकिस्तान के समक्ष 'या तो हमारे साथ या आतंकवादियो के साथ' जैसे प्रश्न इतनी आसानी से नही रख पाता जिसमे उनको सोचने तक का मौका नही मिला।

इस सम्पूर्ण घटनाक्रम के पश्चात् के भविष्य को यदि हम रेखांकित करने का प्रयास करे तो समाजशास्त्रीय दृष्टि के सहारे कुछ बातो को स्पष्ट किया जा

सकता है। सूचना-तकनीक ने विश्व को इस तरह से गूँथ दिया है कि समाज तो समाज, राष्ट्रो तक की सीमाएँ कई मायनो मे कुछ खास मायने नही रखती। परन्तु आज भी बदली व्यवस्था राष्ट्र-राज्यो की भौगोलिक अवधारणा का कोई सशक्त विकल्प प्रस्तुत नही कर पाई है। भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया से जो नई सामाजिक सोच विकसित हुई है उसने व्यक्ति को इस तरह अकेला कर दिया है कि वह अब एक बडे समूह का सदस्य बनना चाहता है, लेकिन उस बडे समूह का जो उसका अपना हो। इसके लिए वह 'जीनियोलॉजी' का सहारा लेता है और इसी से अपनी अस्मिता और एकाकीपन को एक अलग आयाम देना चाहता है। पूँजीवाद ने तो इस दुनिया को तमाम प्रकार की सुविधाएँ और सहूलियते प्रदान करने के जो वायदे किए थे, उनका पूरा हो पाना अब असम्भव लगने लगा है क्योकि पूँजीवाद अपना रुख बाजार से परे अब उपभोक्तावाद पर केन्द्रित करने मे व्यस्त हो गया है।

इस उपभोक्तावाद मे परछाइयो द्वारा व्यक्ति की आवश्यकताओ का एक स्वप्नलोक बनाया जा रहा है जो सिवाय हताशा, निराशा और असन्तुष्टि के भाव के कुछ नही देता। लेकिन इस कभी न समाप्त होने वाली दौड़ मे जहाँ व्यक्ति अपने अकेलेपन के मद्देनजर बडे समूहो मे अपनी पहचान ढूँढने का प्रयास कर रहा है, वही वह न चाहते हुए भी अपने पडोस, नातेदारी, मूल्य, परम्परा आदि को छोड़ने पर विवश है क्योकि आधुनिक पूँजीवाद व्यक्ति को प्रदान की गई सुविधाओ के बदले यही मूल्य माँगता है साथ ही पूँजीवाद की सुविधाओ को पाने के क्रम मे व्यक्ति अपने मूल स्थान को छोडकर नए वातावरण भिन्न परिवेश मे जाने, रहने और काम करने को बाध्य हुआ है। यही कारण है कि जितने भी प्रवासी है वो भले ही पूँजीवादी देशो मे कुछ सुविधाएँ काम करके पा लेते है परन्तु अपनी जडो, अपने अतीत, अपनी जीनियोलॉजी को सप्ताहान्त की छुटि्टयो मे परिकल्पित कर महसूस कर उन्हे पाने के छायावादी प्रयास करते है जो उन्हे वस्तुत वास्तविकता से और भी परे धकेल देता है। इसीलिए आधुनिक पूँजीवाद इस दुनिया की समस्या का समाधान नही बन पाया है।

पूँजीवाद की सस्कृति जहाँ इस दुनिया मे लोगो को स्वर्ग और जन्नत के सपने दिखाती है वही धर्म की सस्कृति दूसरी दुनिया मे इसकी प्रतिछाया प्राप्त करने

के सपने दिखाती है। चाहे वो जन्नत की हूरे हो, ईसाइयो का 'पैराडाइज' हो या कल्पवृक्ष और कामधेनु से सुसज्जित स्वर्ग। तात्पर्य यह कि पूँजीवाद की जितनी वृद्धि होगी, मृत्यु के बाद की दुनिया के नक्शे भी उतने ही साफ नजर आने लगेंगे।

यही कारण है कि आप्रवासी व्यक्ति ज्यादा धर्मभीरू और सस्कृति उन्मुख होते है बनिस्पत उन लोगो के जो अपनी मौलिकता के साथ अपने धर्म और सस्कृति की छाया तले जीते है। पश्च-पूँजीवाद (लेट कैपिटलिज्म) वास्तव मे सपनो का वह ताना-बाना है जिसे आप देख तो सकते हैं पर छू नही सकते। धर्म की मृत्यु के बाद और कल्पनाओ की दुनिया हैं जिसे आप महसूस करने के दभ तो भर सकते है परन्तु उसे देख-भोग नही सकते। इसलिए आधुनिक पूँजीवाद और धर्म का वर्तमान स्वरूप एक ही सिक्के के दो पहलू नजर आने लगे हैं। परिणाम यह हुआ है कि पूँजीवाद मे होने वाले परिवर्तन अनिवार्य रूप से धर्म की भूमिकाओ को भी प्रभावित और परिवर्तित करने लगे हैं।

पूँजीवाद के दूसरे चरण (सोलहवी से अठारहवी सदी तक) मे अमीर बनने के लिए गरीबो की जरूरत थी, परन्तु उपनिवेशवाद और प्रसारवाद के कारण कुछ मूल्य, कुछ परम्पराएँ सभ्य समाज की जरूरतो मे शामिल थी और इसलिए धर्म की भूमिका नैतिकता-उन्मुख थी। परन्तु आधुनिक पूँजीवाद मे अमीर बनने के लिए गरीबो की जरूरत नही रह गई है और न ही जीवन के लिए नैतिकता का पाठ जरूरी रह गया है। इसलिए धर्म की भूमिका स्वच्छन्द और अतार्किकता पर आधारित हो गई है और आज धर्म भी सपनो का सौदागर हो गया है जिसने धार्मिक कट्टरता और अलगाव को जन्म हुआ है, जिसके चरमोत्पादो के रूप मे धर्माधारित आतकवाद अमानवीय और विध्वंसक रूप मे सामने आया है। इसलिए पश्च-पूँजीवाद का परम तत्व ही आतकवाद है चाहे वो तकनीकी हो या धार्मिक।

20

सद्दाम के पतन के बहाने

शीत-युद्ध की समाप्ति के पश्चात् इक्कीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे यूरोप और सयुक्त राज्य अमेरिका ने यह प्रतिबद्धता प्रदर्शित की थी कि नया युग एक वैश्विक युग होगा जिसमे प्रत्येक राष्ट्र की आधारभूत सरचना प्रजातान्त्रिक होगी और प्रत्येक समाज नागरिक समाज बनने की दिशा मे बढेगा। सन् 2001 मे फ्रास की भूमि से इसकी घोषणा भी की गई थी। सयुक्त-उद्घोषको मे सयुक्त राज्य अमेरिका के साथ-साथ यूरोप के प्राय सभी राष्ट्र शामिल थे। लेकिन विडम्बना यह है कि अभी घड़ी की सूई हिली भी नही कि पर्दे पर उकेरे हुए सारे काल्पनिक दृश्य अन्तर्ध्यान हो गए और इनकी जगह इक्कीसवी शताब्दी की नागरिक-विरोधी, अनिश्चित और शक्ति के ताण्डव पर आधारित अभूतपूर्व-स्वरूप सामने आ गया। वालर्स्टीन ने 'मार्च ऑफ कैपिटलिज्म' मे बहुत पहले ही 'लघु-तरगो' और 'वृहद्-तरगो' का उल्लेख करके यह इगित करने के प्रयास किया था कि पूँजीवाद के आने वाले स्वरूप की विशेष विशेषताओ मे पुराने राष्ट्रो का पतन और उनकी जगह नए राष्ट्रो का उदय, शक्तिशाली राष्ट्रो द्वारा ऊर्जा के पारम्परिक सम्भाव्य स्रोतो पर येन-केन प्रकारेण कब्जा तथा शक्ति एव वर्चस्व पर आधारित वैश्विक नीतियो का निर्माण प्रमुख होगा। इक्कीसवी शताब्दी मे सयुक्त राज्य अमेरिका की शक्ति, वर्चस्व और साम्राज्य का अनाधिकृत विस्तार वालर्स्टीन के सकेतो का प्रतिरूपित सस्करण ही नजर आ रहा है और इसीलिए इक्कीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे विश्व का मानचित्र भी अप्रत्याशित और कल्पनातीत रूप से

परिवर्तित हो रहा है। यही कारण है कि शीत युद्ध की समाप्ति के बाद सयुक्त राज्य अमेरिका के विश्व की एक मात्र महाशक्ति रह जाने के कारण विश्व का सन्तुलन विभिन्न स्तरो पर गडबडा गया है या यूँ कहें कि अमेरिका की ओर झुकता जा रहा है। अब विश्व का मानचित्र सयुक्त राज्य अमेरिका अपनी आवश्यकताओ और 'सुरक्षित भविष्य' के पूर्वानुमान के सहारे अपनी दीर्घावधि की आर्थिक नीतियो और हितो के पोषण के क्रम मे बदलने का प्रसार कर रहा प्रतीत होता है। अपने इस नए संस्करण मे इसे अपनी शक्ति और वर्चस्व का इतना गुरूर है कि अपनी 'गतिविधियो' और 'कृत्यो' को प्रच्छन्न-अप्रच्छन्न रूप से 'जस्टिफाई' करने के लिए इसने खतरे की अनुभूति मात्र पर हमला करने के अधिकार और फिर अनुकूलित सत्ता परिवर्तन के रूप मे बकायदा दो नीतियाँ ही घोषित कर रखी हैं। चूँकि इसकी शक्ति, विशेषकर सामरिक शक्ति इतनी भयावह और क्रूर है कि इसकी उक्त दो नीतियो के विरुद्ध न तो कोई सगठित आवाज उभर पा रही है और न ही इसका कोई प्रतिकार बन पा रहा है। यदि देखा जाए तो 18वी शताब्दी के पश्चात् यह पहला अवसर है जब अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर एक बार फिर से 'औपनिवेशीकरण' की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई है। साथ ही प्रजातन्त्र, मानवाधिकार, स्वतन्त्रता, विकास के समान अवसर, सबके लिए गुणवत्तापूर्ण जीवन आदि जिन मूल्यो और प्रतिमानो पर सयुक्त राज्य अमेरिका की नीव पड़ी थी, वह मात्र वही तक सिमट कर रह गए। अन्य देशो के सन्दर्भ मे सयुक्त राज्य अमेरिका इन मूल्यो का नाम तो लेता है, लेकिन इनकी व्यावहारिक और आदर्शात्मक प्रक्रिया के सन्दर्भ मे या तो चुप रहता है या फिर अपने हित-साधन हेतु इनका 'बहानो' के रूप मे उपयोग करता है। इसीलिए वर्तमान समय तक आते-आते वैश्विक मुद्दो और परिवादो के स्वरूप भी काफी बदल गए हैं।

शीत युद्ध की समाप्ति के बाद कुछ पुस्तको की चर्चा हुई जिनमे 'सभ्यताओ का सघर्ष', 'इतिहास का अन्त', 'जगलराज', 'भूमण्डलीकरण' प्रमुख हैं। इनके बारे मे उभरी परिचर्चाओ और उनसे उत्पन्न वैचारिक नारो और आयामो ने वैश्विक वातावरण का स्वरूप बदला लेकिन इनको भी अपने स्वार्थों और उद्देश्यो की पूर्ति हेतु परिवर्तित करने के लिए एक बार पुनः पूर्व-वर्णित दोनो नीतियो का प्रयोग किया जा

रहा है। परिणामत अठारहवी शताब्दी मे जस्टिफाई 'शेष-असभ्य विश्व' को सभ्य बनाने का जो बोझिल उत्तरदायित्व 'श्वेतवर्णी लोगो का था', वह इक्कीसवी शताब्दी के इस दौर मे स्वतन्त्रता और मानवाधिकारो के रूप मे अमेरिका का दर्द बन गया है। 18-19वी शताब्दी मे साम्राज्यवाद की प्रक्रिया के अन्तर्गत यूरोपीय देशो ने उपनिवेशो की भूमि, सस्कृति और ससाधनो तक अपने आप को केन्द्रित रखा था लेकिन इक्कीसवी शताब्दी मे तकनीकी महारत के बल पर सयुक्त राज्य अमेरिका ने स्वतन्त्र राष्ट्रो के ससाधनो और ऊर्जा के स्रोतो पर विविध-स्तरीय नियन्त्रण और अधिकार स्थापित करने को ही अपना एजेण्डा बना लिया है। सद्दाम हुसैन के पतन और इराक के विध्वन्स को यदि हम समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से देखे तो कई बाते साफ होती है। इनमे एक तो यह है कि उर्जा के स्त्रोत किसके पास है और उन पर अधिकार एव नियन्त्रण किसका है, उपयोग के सन्दर्भ मे उनके वितरण का स्वरूप क्या है तथा इस क्रम मे उनके परिवर्तन की क्या स्थिति है। दूसरा यह कि इनके बारे मे जानकारी कैसी है ताकि इनकी सुरक्षा और 'पैरॅडाइम' अपने हितो के पैरॅडाइम विकसित किए जा सके। वस्तुत आज के 'वैश्विक प्रमुख' इन्ही के इर्द-गिर्द सिमट कर रह गए हैं। यही कारण है कि सद्दाम के पतन के बारे मे यूरोप ज्यादा प्रसन्न नही दिखता है बल्कि आशा के विपरीत इस मुद्दे पर वह विभाजित और बँटा हुआ है। इराक मे युद्ध-पूर्व की स्थिति मे दीर्घावधि मे व्यापक स्तर पर रूस, जर्मनी और फ्रास द्वारा किए गए निवेश ब्रिटेन और सयुक्त राज्य अमेरिका जैसे दो 'व्यापारी-राष्ट्रो' को गवारा नही था। इसलिए सद्दाम के बारे मे इराक मे तेल और पुनर्निर्माण तथा नवनिर्माण के ठेको के बँटवारे की प्रक्रिया से उनको बाहर रखने के प्रयास किए जा रहे है क्योकि उन्होने इराक मे प्रजातन्त्र की बहाली के लिए छेड़े गए महाविनाश के युद्ध मे सयुक्त राज्य अमेरिका और ब्रिटेन के सघ का साथ नही दिया था। लेकिन इस क्रम मे सयुक्त राज्य अमेरिका के 'प्रजातन्त्र' के नारे की वस्तुस्थिति ही विश्व के समक्ष उजागर होती जा रही है। हाल ही मे एक सगोष्ठी मे पूर्व राष्ट्रपति श्री क्लिन्टन ने सयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति पर आक्रामक प्रहार करते हुए प्रश्न किया कि आखिर अमेरिका कितने लोगो से दुश्मनी लेगा और 11 सितम्बर की घटनाओ के बाद

वह स्वयं को जितना असुरक्षित महसूस कर रहा है, वह कही से भी उचित और व्यावहारिक नही है। वास्तविकता यह है कि तेल पर कब्जे के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका ने 'सत्ता परिवर्तन' का बहाना लेकर सामरिक विध्वंस का जो नगा नृत्य किया उसकी मिसाल इतिहास मे शायद ही कोई मिले। इस आलोक मे यदि वृहद् परिप्रेक्ष्य मे देखा जाए तो अब तेल की ऊर्जा अरब जगत के लिए नुकसानदायक सिद्ध होने लगी है। इराक युद्ध के पश्चात् इस क्षेत्र की विशिष्ट पहचान से संयुक्त राज्य अमेरिका को सबसे ज्यादा डर अब इराक, इरान, सीरिया से ही लग रहा हैं। बाकी अरब देश या तो इसके अड्डे हैं या फिर पिछलग्गू। इसलिए कुल मिलाकर अरब-जगत की स्थिति अत्यन्त ही विचित्र हो गई है क्योकि इराक पर हमले और सद्दाम के पतन पर अरब जगत की आश्चर्यजनक और अप्रत्याशित चुप्पी एक हद तक गुप्त रूप मे उभरी है। इसके साथ-साथ तकनीक का अतिवादी स्वरूप इतना भयावह हो गया है कि आज मानव समाज और इतिहास इसके सामने असहाय और विवश नजर आने लगा है। अतिवादी तकनीक पर आधारित हथियारो ने इराक के पुरातात्विक धरोहरो का विध्वन्स कर दिया और पारम्परिक तथा ज्ञान की विशालता को समेट कर रखने वाले पुस्तकालय को जलाकर राख कर दिया। इस युद्ध ने प्रजातन्त्र के नाम पर न सिर्फ इराकी समाज को बँटवारे के मुहाने पर ला खडा कर दिया है बल्कि इसे अपने ससाधनो, पहचान, अस्मिता, गौरव से वंचित कर दिया तथा इसकी समृद्ध मध्य-कमान बिखर चुकी है। लूट, हताशा, अराजकता और युद्ध के घावो से वहाँ का समाज विच्छिन्न होने लगा है। स्थिति यह है कि अरब के शेख साहब देखते-देखते ही अरब-शान को बचाने मे बेदिल हो गए हैं। अरब का बिखराव, उसकी परेशानियाँ और नव-आरोपित निर्बलता के कारण यहाँ की ऊर्जा ही अब आत्मघाती सिद्ध होने लगी है। इस क्रम मे एक प्रश्न यह उठता है कि दक्षिण-एशिया के सन्दर्भ मे इस युद्ध के प्रभाव क्या हो सकते हैं?

जहाँ तक पाकिस्तान का प्रश्न है तो हम देखते हैं कि वहाँ की सरकार जितने उत्साह के साथ सयुक्त राज्य अमेरिका के प्रत्येक पग पर उसका साथ दे रही है, वहाँ नवीन परिस्थितियो मे वही के नागरिक अमेरिका से उतनी ही घृणा करने लगे

है। भारत-पाक शत्रुता के कारण और पाकिस्तान की सरकार द्वारा नित नए रूप मे इसे भड़काते रहने के कारण ऐसा लगता है कि जीवन यहाँ प्रतिदिन मुश्किल होता जाएगा। तेल के दामो मे वृद्धि तो होगी ही पर साथ-साथ मित्रता, भाई-चारे और शान्ति की स्थापना के प्रयासो पर कुठाराघात भी जारी रहेगे क्योकि शान्ति इस क्षेत्र मे अमेरिकी हितो के विरुद्ध है। चूँकि स्वय पाकिस्तान मे सत्ता का वैधानीकरण स्थायी रूप ग्रहण नही कर पा रहा है, इसलिए वहाँ के शासक कश्मीर मुद्दे पर प्रपच भी जारी रखेगे और प्रत्येक चुनाव इस प्रपच की तपिश मे तपेगा। दोनो ही राष्ट्रो मे अमेरिकी राजदूत आते रहेगे, भारत-पाकिस्तान हथियार खरीदते रहेगे और इनकी जनता दुर्भाग्य और अभावग्रस्तता को नियति मानकर सिसकती रहेगी। लेकिन आज की परिस्थितियो मे नए घटनाक्रम समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य मे आखिर क्या मायने रखते हैं? उत्तर है कि विश्व का नए सिरे से विभाजन मायने रखता है। भूमण्डलीकृत विश्व मे विश्व के नए सिरे से विभाजन की प्रक्रिया अब तेज होती जा रही है। यदि बीसवी शताब्दी सिमटने पर आयी थी तो इसके विपरीत इक्कीसवी शताब्दी बिखराव की ओर जा रही है। वे राष्ट्र जिनके पास शक्ति का नए सिरे से सचय हुआ है, वे दूसरे राष्ट्रो के ससाधनो और ऊर्जा स्रोतो पर अधिकार एव नियन्त्रण के लिए नए-नए नारो के साथ शक्ति प्रदर्शन के नगे खेलो द्वारा उन सरचनाओ को ताक पर रख रहे हैं जो सकारात्मक मानवतावादी विश्व की खोज के क्रम मे 13वी से 19वी शताब्दी के मध्य शनै शनै निर्मित हुई थी। इतिहास की वस्तुनिष्ठता आज फिर दोहरा रही है कि 'समरथ को नही दोष गुसाई।' यहाँ यह मायने नही रखता कि किन मूल्यो और आदर्शो की दुहाई दी जा रही है।

शहतीर से मुँह मोड़कर तिनके से उलझना,
ऐ उम्मते-ईसा तेरी ये देरीना अदा है।

इस शेर की परछाइयाँ अमेरिका के 'न्यू कन्जरवेटिव्स' मे हमे साफ दिख रही है।

21

पूँजीवाद और उसकी कीमत

पतझड़ के साये मे न सिर्फ प्रकृति चोला बदलने लगती है बल्कि हर चीज अधूरी नजर आने लगती है। सही मायनो मे यह सोचने-विचारने का मौसम होता है जिसमे भविष्य के प्रति उदासीन हो सिर्फ और सिर्फ भूत मे ही जीने की इच्छा होती है। वास्तव मे, यह मनुष्य की विवशताओ को दर्पण दिखाने का मौसम होता है। मनुष्य की निरीहता, बन्धनो और सीमाओ के साथ अपने अनुभवो को नए सिरे से जानने, जाँचने-परखने को जी करता है। यही कारण है इसके आगमन के साथ ही विश्वविद्यालयो तथा अकादमिक सस्थाओ मे सेमिनारो की धूम मच जाती है और राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय स्तरो पर अलग-अलग मुद्दो और विषयो पर केन्द्रित गोष्ठियो-बहसो का वातावरण छा जाता है।

इन सेमिनारो-गोष्ठियो को जब हम समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखते हैं तो न चाहते हुए भी बार-बार दृष्टि जिस एक बिन्दु पर आकर ठहर जाती है, वह है विश्व-व्यवस्था मे पूँजीवाद की केन्द्रियता तथा अब तक पूँजीवाद द्वारा तय किया गया रास्ता और इस परिप्रेक्ष्य मे उसकी कीमत। पूजीवाद की अब तक की यात्रा में व्यक्ति-समूहो और समुदायो ने अनगिनत मोड़ तय किए हैं, अनुभवो की सम्पदा बटोरी है और अभूतपूर्व ताना-बाना बुना है, जिसके समेटने पर तो दिल की दुनिया दिखती है पर विस्तार देने पर ज़माना दिखता है। पर दिल की दुनिया आखिर है क्या? . कुछ

इच्छाएँ, उनकी पूर्ति के प्रयास और फिर अन्तहीन प्रतीक्षा! और जमाना? .. सपनो से परिपूर्ण और त्रुटियो से भरा हुआ जिन्हे लोग अक्सर दूसरो के सिर मढ़ना पसन्द करते हैं। या फिर जीवन की भूल-भुलैया मे कही कभी अचानक गुम हो जाना। ये उसी पूँजीवाद के उत्पादो की परछाइयाँ है जिन्हे अब तक निरन्तर प्रयासो के माध्यम से "विकास" या "डेवलपमेंट" की अवधारणा से जोड़ने की प्रक्रिया को गतिशील रखा गया है। पर यह विकास भी आम भाषा मे भली-भाँति स्पष्ट नही हो पाया है। इस सन्दर्भ मे हमारी मान्यता है कि पूँजीवाद की यात्रा मे प्रारम्भ से ही त्रुटियाँ उत्पन्न हो गई थी और परिणामत यह लक्ष्य से ही भटक गई। इसलिए पूँजीवाद के सन्दर्भ मे विकास को एक निश्चित रूप मे परिभाषित करना आज एक पहेली सा प्रतीत होने लगा है। न तो यह एक परिपूर्ण अवधारणा लगती है और न ही त्रुटिहीन।

हाल ही मे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के "समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम केन्द्र" के तत्वाधान मे बुद्धिजीवियो और प्रतिनिधि किसानो की सहभागिता वाले एक सेमिनार का आयोजन किया गया जिसमे विकास के पैमाने और स्थापित मानदण्डो के अधूरेपन और अप्रसागिकता के कई विन्दु उभर कर सामने आए क्योकि ये पश्चिमी परिवेश और मानसिकता के होने के साथ-साथ भारतीय परिदृश्य मे सास्कृतिक, व्यावहारिक रूप से "विलगित" अवधारणाएँ भी है जो तमाम प्रयासो के बाद भी अब तक स्थानीय परिवेश से तादातम्य स्थापित नही कर पायी।

बहस मे शामिल प्रो रघुवीर सिह ने एक मौलिक आलोचना के माध्यम से विकास की अवधारणा पर ही प्रश्न चिन्ह लगाया। इनका मानना है कि जिसे हम मानव-विकास कहते है वह मानव को एक कमरे या वस्तु की तरह प्रस्तुत करता है जिसे अपनी सुविधा या आवश्यकता के अनुसार मनचाहा आकार दिया जा सकता है या ठोक-पीट कर ठीक किया जा सकता है। लेकिन वस्तुत ऐसा है नही और न ही ऐसा सम्भव है। मानव तो बस मानव है और उसकी प्रवृत्ति मे ही जलन, प्रशसा, प्रतिस्पर्धा, दु ख, आत्म-स्वीकृति आदि भाव विद्यमान हैं जो "विकास" के माध्यम से कम नही होते बल्कि इसके साथ मानव की आभ्यातरिक कमियो और अभाव बोधो के

प्रतिनिधियो के रूप मे और अधिक उभर कर सामने आते है। इनकी इसी सोच को आगे बढाते हुए हम नही सकता? या विकास के क्रम मे शैतानियत के निकट ले जाना तो सम्भव नही है क्योकि मानव आखिर मानव है, जिसमे उक्त तत्वो का आनुपातिक समावेश तो सम्भव है लेकिन इनकी सम्पूर्णता नितान्त असम्भव है।

पुन इस प्रश्न का दुहराव होता है कि आखिर विकास का अर्थ क्या है? हम "विकास के मार्ग" पर चलते हुए जिस श्रेणी को देखते है वो "विकसित श्रेणी" है। इसमे सामान्यत. मध्यम वर्ग और इससे ऊपर के वर्गो के लोग सम्मिलित है और विकास की दौड़ मे वे इतने आवरणहीन हो चले हैं कि वे अब इसकी अनुभूति और इससे उत्पन्न लज्जाजनक और दु.खदायी भावो को भी विस्मृत कर चले है। ऊपर से एक आम प्रक्रिया समझ मे आने वाली यह बात सेमिनारो या गोष्ठियो मे सिर्फ इस दौड़ मे बने रहने के सन्दर्भ मे किए जा रहे उचित-अनुचित प्रयासो के कर्मठ सम्पादको के नेपथ्याधारित चेहरो को बेचेहरा कर देती है। इसी सेमिनार मे वाराणसी के आसपास के गाँवो से आए प्रतिनिधि किसानो ने कुछ अनोखे परन्तु नितान्त व्यावहारिक प्रश्न उठाए जिसमे वितरण, बिचौलियो, मौसम के साथ-साथ परिवर्तन तथा नीति-निर्माण और क्रियान्वयन के मध्य क्षेत्रीय विकास के सन्दर्भ मे असन्तुलन और असमन्वयकारी सन्दर्भो के राग शामिल थे। जमीन से जुड़े हुए लोग तो जमीन की सुगन्ध से परिचित है परन्तु अवधारणाओ, नीतियो और क्रियान्वयन-योजनाओ के स्वयभूओ के बारे मे क्या कहा जाए जिनके अस्तित्व मे रह-रह कर प्रायोजित तुगलकी एजेडे प्रविष्ट हो जाते है। इन किसानो को समझाने और एकमत करने के प्रयास करने वाले स्वयंसेवी संगठन के प्रतिनिधिगणो तथा अन्य विशेषज्ञो ने उन लोगो के उदाहरण तो प्रस्तुत किए, जो निर्धनता से धनाढ्यता तक की दूरी तय कर चुके हैं लेकिन इस क्रम मे किसी ने यह समझाने-समझने के प्रयास नही किए कि यह धनाढ्यता उनके पास कैसे और किस रूप मे आयी। उन्होने इन किसानो को कत्तई नहीं बताया कि धनाढ्यता और सम्पन्नता मे क्या अन्तर है या कि नव-धनाढ्यो ने धनाढ्य बनने की प्रक्रिया मे किन-किन रास्तो के "बाईपास" बनाए होंगे और उनका प्रयोग किया होगा, किन-किन प्रतिष्ठित मूल्यो का परित्याग किया होगा और कितना खोखलापन ओढ़ा

होगा? "विकास" के सन्दर्भ मे इन चीजो को अपेक्षाकृत "आख्यानात्मक समाजशास्त्र"के माध्यम से बेहतर ढग से विश्लेषित किया जा सकता है। इसलिए समाजशास्त्र मे "विकास" की वर्तमान अवधारणा उत्तर-आधुनिकता के सन्दर्भ मे मानव, समूह, समुदाय, समाज तथा राष्ट्र को खण्डित करने वाली अधिक प्रतीत हो रही है। और तो और, "विकास" से जुडी हुई जो पद्धतियाँ थी, है, उन पर भी नए सिरे से प्रश्न-चिन्ह आरोपित होने लगे है। अब जबकि पूँजीवाद अपनी यात्रा के तृतीय महत्वपूर्ण मोड को भी पार कर चुका है, उबड़-खाबड खेल के मैदान पर भूमण्डलीकरण का जिन्न एक जैसे तरीके से अपना "समरस" और "कल्याणकारी" खेल खेलने मे निरन्तर व्यस्त है। यही कारण है कि इस "विकास" की जो परछाइयाँ हैं वे एक मासूम बच्चे के अपरिपक्व मस्तिष्क मे "ठण्डा-मतलब कोका कोला होता है", का दिग्भ्रम आरोपित करती है तो वही एक विशेष नाम वाली शराब के पैगो के साथ किसी सुन्दरी के शरीर से क्रमश नीचे सरकते वस्त्रो का नशीला बोध किशोरो मे उत्पन्न करने के प्रयास करती है। इसी से थोड़ी दूर इसी भारत के निर्धन उप-भारतो मे निर्धन जनता को पानी की चन्द बूँदो के लिए प्रतिदिन, सुबह-शाम या तो मीलो का रास्ता तय करने या फिर घण्टो दैनिक जीवन की अन्य प्राथमिकताओ को किनारे रखकर कतार मे लगे रहने के अध्यारोपित कार्यक्रम भी विकास का परम्परा से आधुनिक और फिर उत्तर-आधुनिक होते पैमाने बनाते और क्रियान्वित करते हैं। और "अचानक" एक दिन ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती है जिनमे ऐसे ही निर्धन उप-भारतो का एक गुमनाम हिस्सा विपरीत प्रकार से भुखमरी के सनसनाते समाचारो के साथ एक "पण्य" के रूप मे बाजारीकरण की प्रक्रिया द्वारा पश्चिमी और पश्चिमीकृत पूँजीवादी महा-बाजारो मे ऊँचे दामो पर बिकवा दिया जाता है। रही बात अब सेमिनार की तो ये भी इसी तरह ना जाने कितने प्रतिभाशाली एव प्रारम्भिक दौर के सक्षम शिक्षको और बौद्धिको के मस्तिष्क को अपहृत कर लेते है। विशिष्ट बिन्दुओ पर केन्द्रित सेमिनार कैसे आयोजित होते हैं, इन्हे प्रायोजित किन ससाधनो के सहारे किया जाता है, इनके कार्यक्रम और निहितार्थ परिणाम क्या होते हैं, आदि प्रश्न और सार्थक जिज्ञासाएँ यदि कोई उछालता भी है तो उसे क्रमश इस "दौड़" से ही च्युत कर दिया जाता है। फैज के अनुसार —

नवा-ए-मुर्ग को कहते हैं ज़िया-ए-सुबह,
खिले न फूल तो इसे इंतज़ाम कहते हैं।

एक ऐसे वातावरण मे जिस प्रक्रिया के धचको से देश-काल-परिस्थिति के वृहद् आयाम असन्तुलित होते हो वह कम से कम व्यक्ति, समूह, समुदाय, समाज या राष्ट्र को अन्दर या बाहर से परिपक्व बनाने वाली सकारात्मक प्रक्रिया तो नही है। वस्तुत राक्षसी प्रतिस्पर्धात्मक दौड़ का कुत्सित और अमानवीय आयोजन करने वाली, मानव को तोड़ने और बिखरा देने वाली प्रक्रिया बनती जा रही है। और परिणामत मानव क्रमश. "मानवेत्तर" भावो तथा प्रवृत्तियो के साथ (मानवेत्तर से तात्पर्य देवत्य से निकटता कतई नही है) सभ्य दिखने वाले सफेदपोश अपराधियो के निकट जाता दिखने लगा है।

फिर विकास है क्या? इस अवधारणा या प्रक्रिया का सूक्ष्म और व्यापक दोनो ही दृष्टिकोणो से अवलोकन और विश्लेषण भारत की परम्परागत मनीषा और ग्रन्थो के सम्पन्न आगारो मे सरक्षित है। वर्तमान मे यूरोप और पश्चिमी विश्व मे भी कई ऐसे बौद्धिक सम्प्रदाय है जिनमे पर्याप्त मात्रा मे, और कभी-कभी तो विस्मयकारी ढंग से "ओवरआर्चिंग" दिखती है, सिद्ध करने का प्रयास करती है कि हजारो वर्षो की भारतीय यात्रा आज यूरोप मे भी गत चन्द वर्षों से एक नया आकार लेने लगी है। लाका, लूकाक्स, दरिदा, फूको, गिड्डेन्स, बाह्यान, हैबरमॉस इसी आकार लेती नयी यात्रा के यात्री हैं, जो विकास की अवधारणा को सकारात्मक पड़ावो और नए लक्ष्यो से सन्दर्भित कर देखते-विश्लेषित करते हैं। इनका जोर पुनर्मूल्याकन और पुनर्विश्लेषण के लिए सास्कृतिक अध्ययनो और दृष्टिकोणो पर है, जो "आख्यानो की परम्परा" मे विद्यमान है। आख्यानो की यह परम्परा व्यक्ति, समूह, समुदाय, राष्ट्र की जड़ो तक पहुँचती है और इन जड़ो को जीन-शास्त्रीय अध्ययनो के सहारे ढूँढ़ा और संहिताबद्ध किया जा सकता है। ज़िगर के शब्दो मे कहे तो अब तक की परिस्थितियो से तो यही मालूम होता है कि—

अहले खिरद ने दिन ये दिखलाये,
घट गए इंसान, बढ़ गए साये।

22

पैमानों के साथ बदलते मुद्दे

राज्य, अन्तर्राष्ट्रीय दाता संस्थाएँ, समाज सेवक, स्वयसेवी संगठन इत्यादि सभी इस चिंता से ग्रस्त हैं कि बदलती हुई परिस्थितियो मे कौन से मुद्दे चुने जाएँ जिनके सहारे वांछित परिवर्तन लाए जा सके। नवीन पटल से बहस और विकास के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक मुद्दे अचानक लुप्त हो नही गए है बल्कि वे तो पूर्ववत विद्यमान हैं। निर्धनता, आर्थिक असमानता, बेरोजगारी, कुपोषण, आवास की समस्या, बीमारियाँ आदि भला क्या समाप्त हो गयी हैं। लेकिन लोगो को "जटिल बना दी गयी" उहापोह वाली विश्व व्यवस्था मे इन मुद्दो की सार्थकता और सक्षमता सम्भवत संदेहास्पद लगने लगी है। वे लम्बे समय से यह सुनिश्चित कर पाने मे असफल रहे है कि सामूहिक-सक्रियता, गतिविधि या आदोलन के अगणित मुद्दो मे से किसे चुने और इसके अभिकरण किसे बनाएँ। फिर भी उन्हे जो सर्वाधिक उपयुक्त मुद्दा लगता है वह विकास का मुद्दा है जो बहुआयामी है। यह भी कोई नवीन मुद्दा नही है बल्कि प्रारम्भ से (50-60 के दशक से ही) इस पर निरन्तर चर्चा होती रही है। पचास-साठ के दशक मे विकासवाद, राष्ट्र और तमाम विकास संस्थाएँ सकल घरेलू उत्पाद को ही विकास का पैमाना मानती थी। लेकिन यह आँकड़ो मे उलझा हुआ एक ऐसा पैमाना था जिसमे मानव-समाज की तस्वीरे साफ नही दिखती थी। इसके आधार पर किए गए राष्ट्रो के वर्गीकरण मे कई प्रकार के गुट और सीमावद्धताएँ प्रकट होती थी। यह और बात है कि तीसरे विश्व के देश अभी भी इसका प्रयोग बैंक बैलेंस,

विदेश नीति तथा योजना-निर्माण के सन्दर्भ मे कर रहे है। लेकिन यह भी अकारण नही है क्योकि कतिपय विकासशील देशो को अपने से कई कदम पीछे रखना विकसित देशो का एक शगल है और इन देशो से उन्हे जो कुछ भी चाहिए वह उन्हे पैसो के बल पर हासिल हो जाता है। इसका एक प्रामाणिक उदाहरण मुशर्रफ की कैम्प डेविड मे बुश द्वारा की गई मेहमान नवाजी है। इस मेहमान नवाजी पर फब्तियाँ कसी गई हैं और इस प्रवृत्ति के निहितार्थ खतरनाक भी हैं। बुश मुशर्रफ से कहते है — "अलकायदा पर अकुश लगाने पर कैम्प डेविड मे लंच है तो लादेन को जीवित या मृत पकड़ने पर टैक्सास मे मेरे साथ मेरे घर मे ससम्मान रात्रि भोज हो सकता है।" ऐसे मे विकास के मुद्दे समाप्त नही होगे तो क्या होगे! एक ऐसे शासन मे जिसे समाज की विश्वसनीयता प्राप्त नही हो और राष्ट्रवादी तत्व बिखरे हुए हो तो क्या उसका लाभ विकसित देश नही उठायेगे! यही कारण है कि नब्बे के दशक के प्रारम्भ से, जब विश्व भूमण्डलीकृत गाँव की राह पर बढने लगा और प्रजातन्त्र की हवाएँ तेज होने लगी, (हालाँकि पूर्ण और सर्वव्यापी प्रजातन्त्र अभी भी एक सपना ही है) तो महबूब-उल-हक ने परम्परागत लीक से हट कर विकास के नए संकेतको और पैमानो को सामाजिक विज्ञान के आवरण मे प्रस्तुत किया। इसमे सकल घरेलू उत्पाद एक गौण तथा बीती हुई बात थी तथा स्वास्थ्य, शिक्षा के मानदण्ड जुड़ गए थे। इसके प्रचलन मे आते ही अब तक विकसित देशो की शीर्ष पायदानो पर विराज रहे जापान, कनाडा आदि देश फिसल कर नीचे आ गए। जब महबूब-उल-हक ने बाद मे इसमे स्त्रियो की स्थिति को भी जोड़ दिया तो स्कैंडनेवियन देश विकास की सीढ़ी क्रम मे सबसे ऊपर चले गए। अब स्थिति यह है कि विश्व भर मे सम्पूर्ण और सन्तुलित विकास के सन्दर्भ मे स्वीडन का प्रारूप सबसे अधिक उपयुक्त एव प्रासंगिक माना जा रहा है। लेकिन इन देशो के साथ भी कई विडम्बनाएँ जुड़ी हुई हैं। जब इन देशो ने अपने विकास कार्यक्रम को और आगे बढ़ाते हुए स्वास्थ्य सेवाओ और कल्याणकारी राज्य के फायदो का विस्तार करना चाहा तो उनके समक्ष एक विचित्र स्थिति निर्मित हो गई। नार्वे मे एक गर्भवती महिला को बच्चे के जन्म तक 6-8 लाख रुपए सरकार की ओर से दिए जाते हैं ताकि उसके समक्ष किसी प्रकार की कोई आर्थिक कठिनाई उत्पन्न न हो क्योकि वहाँ

जनसख्या मे वृद्धि और परिवार-सख्या का बचे रहना नीतिगत मुद्दा हो गया है। लेकिन इसका नाजायज लाभ लेने की प्रवृत्ति वहाँ के एशियाई प्रवासियो मे बढी है। विशेष कर पाकिस्तानियो द्वारा जो साठ के दशक मे नार्वे पहुँचे थे और अब चालीस हजार की आबादी के साथ ओस्लो मे एक लघु पाकिस्तान ही बसा चुके हैं। इनमे से अधिकाश बेरोजगारी भत्ता, दूसरी शादी तथा गर्भधारण भत्ता, आदि के सहारे जीवन जीना प्रारम्भ कर चुके है। इस बात को लेकर ऐसे लोगो और शेष एशियाई लोगो जो वस्तुत कर्मठ और ईमानदार हैं, के बीच गहरी दरारे उभरती जा रही हैं। ओस्लो की परिवर्तित होती जा रही सामाजिक-धार्मिक सरचना भी चिन्तनीय बिन्दु उभारती है। ये उन परिस्थितियो का निर्माण करती हैं जिसमे कल्याणकारी राज्य के मुद्दे प्रवासी और अप्रासगिक मुद्दो की छाया मे पड़कर धुधले हो जाते हैं। हमारे यहाँ भी बागलादेशी प्रवासियो की समस्या निकट भविष्य मे इससे भी भयकर रूप मे उभर कर सामने आ सकती है। सूचना तकनीक और इलेक्ट्रानिक क्रान्ति के इस दौर मे जब विश्व भर के देश प्रवासियो की समस्या से निबटने, बहु-सस्कृति की समस्याओ को सुलझाने, राज्य के कल्याणकारी पक्ष पर कम पैसा खर्च करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के तत्वाधान मे विकास के नए पैमाने विकसित करने की दिशा मे कार्य कर ही रहे थे कि 11 सितम्बर की घटना ने इन्हे बीच मे ही खारिज़ कर दिया है। परिवर्तित होते हुए विश्व और इसकी प्रवृत्तियो पर यूरोप मे जितनी भी चर्चाएँ हुई है, इधर बीच हाल मे उनमे जर्मनी के बादेन-बादे मे हुई चर्चा एक महत्वपूर्ण है। इसमे अन्तर्राष्ट्रीय विकास के प्रारूप, स्वरूप और प्रक्रिया का पुनर्विश्लेषण किया गया तथा "सूचना, विज्ञान एव इटरनेट —– विश्व" के बैनर के तहत विज्ञानियो एव समाजविज्ञानियो ने विकास के मापदण्डो मे स्वास्थ्य के साथ-साथ सुरक्षा एव प्रेम के उपमान भी जोड दिए। इनकी यह मान्यता है कि इन तीनो के इर्द-गिर्द व्यक्ति की सोच और जीवन घूमता रहता है और पैसा एक साधन मात्र है इनको अर्जित करने का। इसलिए विकास के प्रमापन मे जब मानव विकास के प्रश्न आते हैं, तब वहाँ उपरोक्त तथ्य महत्वपूर्ण हो जाते है। शताब्दी के विकास-लक्ष्य, जो इस शताब्दी के प्रारम्भ मे तय किए गए थे, जिसमे निर्धनता उन्मूलन, सर्वशिक्षा, लैंगिक समानता की स्थापना, शिशु

मृत्यु पर रोक, पर्यावरणीय सुरक्षा एवं सन्तुलन को प्रोत्साहन, रोग मुक्त स्वस्थ मानव समाज के निर्माण इत्यादि प्रमुख लक्ष्य हैं, की प्राप्ति की दिशा मे विकसित राष्ट्र निर्धारित गतिविधियाँ विकासशील राष्ट्रो मे सम्पन्न कर भी रहे थे, लेकिन 11 सितम्बर की घटनाओ ने इन कार्यक्रमो, लक्ष्यो एव योजनाओ की दूरगामी फलदायिता को ही सन्देह के घेरे मे लाकर विकास के सम्बन्ध मे नई बहसो को जन्म दे दिया है। अब उक्त मुद्दो को जो उचित बल प्रदान किया जा रहा था विश्व समुदाय द्वारा, वह साझे उत्तरदायित्व की सकल्पना मे परिवर्तित होता जा रहा है और कही से भी उक्त लक्ष्यो की प्राप्ति सम्भव नही बनाता। सुरक्षा के नाम पर "हायर एण्ड फायर", राष्ट्रो मे राजनीतिक अस्थिरता की स्थिति निर्मित कर उन्हे अपने पक्ष मे भयादोहित करना तथा सम्पूर्ण परिवेश पर येन-केन-प्रकारेण अपना नियन्त्रण स्थापित करना मुख्य मुद्दा हो गया है। शीत-युद्ध के बाद विकास के लिए अनिवार्य मानी गई स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र की परिस्थितियाँ आज अपनी अनिवार्यता और उपस्थिति खो रही है क्योकि पश्चिम के नए वैचारिक-पहलुओ की मान्यता यह हो गई है कि सीमा से अधिक प्रजातन्त्र विकासशील देशो के लिए "बन्दर के हाथ मे उस्तरा" जैसा है। इसलिए सीमित प्रजातन्त्र एव स्वतन्त्रता द्वारा ही इन देशो मे विकास के निर्धारित लक्ष्य प्राप्त किए जा सकते है। यह अलग बात है कि विकसित देश पेट्रोलियम और ऊर्जा के अन्य स्त्रोतो पर अपने अधिकार के लिए बाजार की आधुनिक शक्तियो का प्रयोग विकासशील देशो पर लगातार करते ही जा रहे हैं। अगोला से इराक तक एक भी तेल उत्पादक देश ऐसा नही है जहाँ अमन चैन और स्थायी विकास हो। भारत चूँकि एक उभरता हुआ उपभोक्तावादी समाज है इसलिए विकसित देशो की नजर मे रहना इसके लिए स्वाभाविक ही है। वास्तव मे, विकास का एशियाई सन्दर्भ नियतिवाद हैं इसलिए यह एक सीमा के बाद उदारमान हो जाता है। इसलिए सन्तुलित प्रशासकीय वितरण, सक्षम शिक्षा तथा वैश्विक मूल्यो के प्रसार के द्वारा ही विकास के प्रासगिक रास्ते निर्मित किए जा सकते है, अन्यथा वर्चस्व और शक्ति के झमेले षड़यन्त्र करते ही रहेगे।

इन बिन्दुओ को गाँधी जी के दर्शन मे अत्यन्त ही सरलता और प्रामाणिकता से सरक्षतावादी सिद्धान्त, पचायती राज, स्वदेशी विकास, नैतिक मूल्यो और आपसी समझ आदि के माध्यम से स्पष्ट किया गया है। सिद्धान्तत और व्यवहारत विकास के अन्तर्राष्ट्रीय द्वन्द्वो से निजात पाने का इससे बेहतर समाधान नही होगा कि हम इस दर्शन का पालन करे, वर्ना बकौल राज

"कश्मीरी ब-अदाजे ज़र्फ गम मिल चुका है,
करम अब तेरा चारागर देखते हैं।"

23

इतिहास पर बँटे इतिहासकार

पिछले दशक से निरन्तर परिवर्तित होती परिस्थितियो ने एक नए युग के निर्माण की प्रक्रिया को निर्माण किया है जिसका पूर्वानुमान किसी को भी नही था। 1970-80 के दशको मे समाज विज्ञानी "पैरॅडाइम शिफ्ट" की बाते किया करते थे लेकिन बीसवी शताब्दी की समाप्ति, वास्तव मे, एक युग परिवर्तन का द्योतक थी। इसलिए वर्तमान *युग मे उन प्रतिमानो और तत्वो को खोजने की आवश्यकता है जिन पर यह परिवर्तन* आधारित था। इस युग के परिवर्तन के जो खास मोड़ उत्पन्न हुए वो सोवियत संघ के अन्त के साथ-साथ एक नए सामाजिक क्रम के निर्माण से सम्बद्ध थे और उसमे सूचना तकनीक की महत्वपूर्ण और क्रान्तिकारी भूमिका थी। सूचना तकनीक क्रान्ति, जिसने व्यक्तिगत को सार्वजनिक और सार्वजनिक को व्यक्तिगत का उथल-पुथल भरा स्वरूप दे दिया, जिसके आलोक मे नए सामाजिक आन्दोलन तथा ज्ञान के नए मापदण्ड उभरे। इसके साथ-साथ इस परिवर्तित होते परिवेश मे नई शासन-व्यवस्थाओ का अभ्युदय हुआ और परम्परागत सोच के स्थान पर प्रत्येक क्षेत्र मे नई बहसो ने आकार ग्रहण किया। इसमे धार्मिक राष्ट्रवाद बनाम धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद की बहस प्रमुख है जिसने प्राय: सम्पूर्ण विश्व को परस्पर पृथक या विरोधी वैचारिक सम्प्रदायो की भाँति विभाजित कर दिया। यह एक प्रकार का अन्तर्गुंफित भँवर सा प्रतीत होता है जिसमे भारत के स्थान और इसके परिवर्तित होते आन्तरिक प्रतिमानो के विश्लेषण की महती आवश्यकता है।

भारत का पम्परागत समाज एक प्राचीन समाज है जिसके मूल तत्वो मे सम्पूर्णतावाद, सस्तरण, पारलौकिकतावाद, सातत्य आदि के बिन्दु महत्वपूर्ण हैं लेकिन समय के साथ इनको भी बाह्य-आन्तरिक कारको से न्यूनाधिक रूप से प्रभावित होना पडता है। ब्राह्मण-वर्चस्ववादी भारतीय सामाजिक-सस्कृति व्यवस्था मे सर्वप्रथम छठी से आठवी शताब्दी के मध्य अन्तर्विरोध उभर कर तब सामने आए जब भारत मे लोहे की क्रान्तिकारी खोज हुई जिसने प्राय व्यवस्था के प्रत्येक पहलू मे आमूल-चूल परिवर्तन प्रारम्भ कर दिया। इसके परिणामस्वरूप समाज मे एक नए व्यापारी वर्ग का उदय हुआ जिसने पुरानी परम्परागत सरचनाओ-व्यवस्थाओ के समक्ष चुनौतियाँ प्रस्तुत की। यह वह समय था जब बौद्ध-धर्म का विकास हुआ, मनुस्मृति की नमनीयता मे कमी आयी और वर्ण-व्यवस्था क्रमश जन्माधारित हो गयी। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया ने भारतीय इतिहास को कई मोड प्रदान किए जिसमे ब्राह्मण वर्चस्ववादी हिन्दू धार्मिक व्यवस्था ने बौद्ध-धर्म के प्रभाव को क्षीण करने हेतु लोचदार स्वरूप अपनाया और एक सीमा तक समझौते करके स्थानीय धर्म बिन्दुओ और देवी-देवताओ तथा लघु परम्पराओ को भी आत्मसात कर उन्हे अपनी स्वीकृति प्रदान की ताकि इसका पुराना और परम्पारगत वर्चस्व और प्रभुता बनी रहे और कुछ अशो तक उसे इसने सफलताएँ भी मिली।

इस क्रम मे दूसरी महत्वपूर्ण कड़ी प्रथम सहस्त्राब्दी के बाद हिन्दू-मुस्लिम सभ्यताओ के मध्य प्रारम्भिक मुठभेड़ के रूप मे सामने आती है जिसमे दोनो सभ्यताओ ने यह देख-समझ लिया कि न तो भारत को पूर्णतया इस्लाम के रंग मे रगा जा सकता है और न ही इस्लाम को पूर्णतया भारत-बदर किया जा सकता है। परिणामस्वरूप पन्द्रहवी शताब्दी के आते-आते दोनो सभ्यताओ की आपसी समझ और अनौपचारिक तथा स्वत स्फूर्त समझौतो से एक नई सरचना-व्यवस्था उभरी जिसमे इस्लाम की वृहद् परम्पराओ (जिसके मुख्य तत्वो मे वास्तुशास्त्र, पाकशास्त्र, वेश-भूषा, भाषा आदि प्रमुख थे) को महत्वपूर्ण स्थान मिले। इसके बदले मे इस्लाम के अन्दर पीर-परस्ती, जियारत-परस्ती, सस्तरण, फसलो से जुड़े तीज-त्योहारो आदि को महत्वपूर्ण तत्वों के रूप मे प्रतिष्ठित होते देखा गया। इस सन्दर्भ मे एक महत्वपूर्ण

प्रक्रिया भक्ति आन्दोलनो की रही जिन्होने दोनो सभ्यताओ के समावेश को एक सुनिश्चित और आकर्षक रग-रूप प्रदान किया। इसके बाद का भारत वेदान्त और इस्लामिक-सभ्यताओ के अद्भुत समन्वय का प्रतीक बन गया और कालान्तर मे यही एक स्वस्थ दक्षिण एशियाई नागरिक समाज के निर्माण हेतु सन्दर्भ संस्कृति के रूप मे नजर आने लगी जिसमे भविष्य की सकारात्मक सम्भावनाएँ जीवित थी और जिसमे बिना भेदभाव के सभी धर्मो-संस्कृतियो के अनुयायियो को परस्पर प्रेम और सहयोग के आधार पर एक साथ रहने के आदर्श स्थापित थे। हालाँकि समय-समय पर अनेक थपेडे भी आए। अठारहवी शताब्दी तक इस सामाजिक सूत्रबद्धता को अग्रेजो ने तोड़ने के कई प्रयास किए परन्तु असफल रहने के पश्चात् अतत उन्होने इसे भी "माडर्न प्रोजेक्ट" से जोड़ दिया। यह उनका एक ऐसा कार्यक्रम था जिसके तहत पश्चिमीकरण के मूल्य और तत्वो को आसानी से इस लयात्मक और सूत्रबद्ध सरचना मे समाविष्ट कर दिए गए। भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन इसी लयात्मक और सूत्रबद्ध सामाजिक-सास्कृतिक स्वरूप को फिर से जीवित कर सम्पूर्ण भारत को एकीकृत, सगठित और जागृत करने के प्रयासो का सकुल था जिसने राष्ट्रवाद की अन्य राजनीतिक-आर्थिक आदि धाराओ को भी अपने साथ ले लिया। ऐसी कोई बात नही थी कि राष्ट्रीय आन्दोलन के हमारे नायक भारतीय समाज की विविधताओ और अत्यन्त ही पुराने स्वरूप मे घर कर गयी या विद्यमान समस्याओ से परिचित नही थे, जिसमे दलितो, पिछड़ो, महिलाओ, निर्बल-वर्गो से सम्बन्धित प्रश्नो और मुद्दो की सुनवाई नही होती थी, लेकिन उन्हे यह भान था कि आने वाले समय मे विश्व क्षेत्रीय, भौगोलिक सीमाओ की परिधि से बाहर निकल आएगा और तब बहु-सास्कृतिक समाज के लिए यदि कोई क्षेत्रीय अस्मिता और पहचान सम्भव होगी तो वह साक्षी और सहयोगी संस्कृतियो के द्वारा ही और इसी मे भारतीय अथवा दक्षिण एशियाई समाज का सुखद भविष्य होगा। परन्तु पाकिस्तान का निर्माण इस आदर्श सकल्पना और सम्भावना का विभाजन था जिसका मूल्य दोनो राष्ट्रो को आज तक घातक रूप मे चुकाना पड़ रहा है। भारत-विभाजन के पश्चात् बौद्धिको, विशेषकर इतिहासकारो मे भी मत-दृष्टिकोण विभाजन हो गया। इसी विभाजन के कारण पूरे क्षेत्र के निर्णायक प्रत्याशित विकास, फलते-

फूलते प्रजातन्त्र और सुख-शान्ति के ऊपर हताश और विध्वन्स की काली परछाइयाँ नजर आने लगी हैं क्योंकि विभाजन के पश्चात् उभरे द्वन्द्वो ने स्वतन्त्रता के पश्चात् प्रारम्भ हुई आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को पनपने ही नहीं दिया। आज स्थिति यह है कि पड़ोस की परिस्थितियाँ भी हमारी राष्ट्रीय पहचान और गति को प्रभावित कर रही हैं। इसी कारण विश्व के देश, समाज जहाँ अपने विवादो-मुद्दो को जहाँ नये सिरे से सुलझाने मे लगे है, उनके मध्य जहाँ वैचारिकी की लड़ाई समाप्त हो रही है, वही हमारे विवाद और समस्याएँ नए और ज्वलन्त रूप ले रही हैं।

अब, जबकि भारतीय इतिहास को फिर से देखने, समझने और मूल्यांकित करने की चेष्टा हो रही है उसमे कौन-कौन सी राहे ऐसी हैं जो भारत की सामाजिक-सास्कृतिक विलक्षणता को सही दिशा से भटका सकती है, आइए इसका अवलोकन करते है। भारतीय इतिहास के परिमार्जन और पुनर्मूल्याकन के प्रश्न पर उलझे इतिहासकारो मे एक वर्ग ऐसा है जो आधुनिकीकरण की पूरी प्रक्रिया को ही नकारता है और इतिहास को पौर्वात्य (प्राच्य) और पाश्चात्य मे बाँट देता है। यह वर्ग सम्पूर्ण औपनिवेशिक शासन को "स्व" बनाम "अन्य" के पैमाने से मापता है। इस वर्ग या सम्प्रदाय की मान्यता यह है कि आने वाले समय मे इतिहासकारो को इतिहास के सन्दर्भ मे "अन्य" को झुठलाने का कार्य करना होगा जो कि धर्म के ऊपर होगा तथा साथ ही औपनिवेशिक साहित्य को भी दुरुस्त करने का प्रयास करना होगा। वही इतिहासकारो का दूसरा समुदाय ऐसा है जो अपने इतिहास को महिमामण्डित करता है। परन्तु स्व-महिमामण्डन की यह प्रक्रिया गगा-जमुनी तहजीब और इसकी लयात्मकता के खण्डन की प्रक्रिया है क्योंकि परम्पराओ की शक्ति, निरन्तरता को नकारना है, किनको स्वीकार करना है और किनको महिमामण्डित और प्रचारित करना है, यह आज के परिवेश मे एक दुरुह कार्य है क्योंकि परम्पराओ और इतिहास का फलक अत्यन्त विस्तृत और विशाल है।

इनके अतिरिक्त इतिहासकारो का एक और सम्प्रदाय है जो भारतीय इतिहास के उभार को ही नकारता है। इसका मानना है कि आधी से अधिक

जनसख्या, जो हजारो वर्षो तक शोषण, दमन और अभावो का शिकार रही है, उनके सन्दर्भ मे भी आज प्रजातन्त्र के माध्यम से एक नए सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनैतिक परिवर्तन का सूत्रपात हुआ है तो इसे पुराने इतिहास से जोड़कर नही देखना चाहिए। कुछ सीमा तक यह सिद्धान्तत: उचित प्रतीत होता है, लेकिन इसमे भी इतिहास के प्रतिरोध, आक्रोश और प्रतिशोध की भावना की अनुभूति होती है। सम्भवत इससे भारतीय आन्दोलन के नायक परिचित थे। वे यह जानते थे कि एक सम्मिश्र सस्कृति के माध्यम से ही भारत के विविधतापूर्ण स्वरूप को सगठित और एकीकृत किया जा सकता है। यही कारण है कि वे भारतीय सभ्यता-संस्कृति को सकलन, पारस्परिक आदान-प्रदान पर आधारित और उद्‌विकासीय रूप मे विकसित हुआ मानते हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् का एक दशक इसी स्वरूप को नया रूप, नए तेवर प्रदान करने वाला दशक था जो बाद मे क्रमश कमतर होता गया।

नयी परिस्थितियो मे, जिनमे पश्च-पूँजीवाद ने सारे समाजो को छिन्न-भिन्न कर व्यक्ति को एकाकी बनाकर अपनी पहचान की खोज मे भटका दिया और बाद मे इस भटकाव को उपभोक्तावाद के माध्यम से और भी दिशाहीन बना दिया, अब व्यक्ति और समूह—विकल्पहीनता की स्थिति मे अपनी पहचान की खोज मे आज के इतिहासकारो के साथ भी बँटे-विभाजित प्रतीत होते हैं। इस प्रवृत्ति का सबसे नकारात्मक पहलू यह है कि इसने इतिहास तथा सम्मिश्र सस्कृति के भावो को विघटित करना प्रारम्भ कर दिया है। हमारी मान्यता यह है कि "इतिहास पर निर्णय देना बुद्धिमत्ता की बात नही है बल्कि इतिहास से सीखना एक नए इतिहास के निर्माण मे उपयोगी हो सकता है।" एक अच्छे इतिहास के निर्माण के लिए अपने पुराने इतिहास को, उस इतिहास को भूलने की आवश्यकता है जिसमे आपसी विद्वेष, घृणा, सघर्ष और दायरो की गाथाएँ हैं। विश्व एक बहुसास्कृतिक ग्राम के रूप मे परिणत हो रहा है और भारत भी इससे अछूता नही रह सकता है। इसलिए हम यह मानकर चलते है कि आज प्राय अधिकाश राष्ट्रो ने अपने राष्ट्रवाद के स्वरूप को सस्कृति और आवश्यकताओ के परिप्रेक्ष्य मे निर्धारित किया है। सयुक्त राज्य अमेरिका, जिसमे

राष्ट्रीय संस्कृति को "मेल्टिंग पॉट" की अवधारणा के आधार पर निर्मित करने का प्रयास किया गया, साठ के दशक के बाद उसमे भी दरारे दिखने लगी हैं।

यह एक प्रयोग था जिसे सयुक्त राज्य अमेरिका और कुछ यूरोपीय देशो ने प्रारम्भ किया था, जिसमे प्रवासियो को सुरक्षित रखने के क्रम मे राष्ट्रीय सस्कृति को इन्द्रधनुषी आयाम देने की मशा थी। लेकिन यह अपने विरोधाभाषो और अन्तर्विरोधो के कारण फीकी पड़ गयी। जिनके आधार पर इन्द्रधनुषी सकल्पना के रग बनाए गए थे, आज उन्हे दृश्य-अल्पसख्यक के नाम से जाना जाता है, जिसका राष्ट्र की मुख्यधारा मे कोई विशेष स्थान नही है। इस आधार पर दक्षिण एशिया, विशेषकर भारत, पाकिस्तान और बाग्लादेश की गगा-जमुनी सस्कृति मे अनावश्यक महिमामण्डन की उलझने नही थी क्योकि इसके पुष्पित-पल्लवित और प्रसारित होने मे सबका बराबर का योगदान था और आज इसको बचाने और विकसित करने मे जितना योगदान हिन्दू इतिहासकार दे सकते हैं, उतनी ही आवश्यकता मुस्लिम इतिहासकारो के पहल और योगदान की है।

इसके लिए भारत-विभाजन और पाकिस्तान निर्माण के जनक सिद्धान्त—"द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त" को नेपथ्य मे फेकने के बाद पाकिस्तान मे भी एक सघीय प्रजातान्त्रिक शासन व्यवस्था लागू करने की परिस्थितियाँ निर्मित करनी होगी जिसका भारतीय अस्मिता, राष्ट्रवाद और समृद्धि से कोई टकराव नही होगा बल्कि वह पूरे क्षेत्र की समृद्धि और शान्ति हेतु उत्प्रेरक की भूमिका निभाने और सम्पूर्ण विश्व के समक्ष अपने पुराने अनुभवो के आधार पर एक नया "प्रारूप" प्रस्तुत करने मे सक्षम बनेगा। हालाँकि भारत मे जब यह प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी तब पश्चिमी साम्राज्य का वर्चस्व इतना अधिक था कि इसके महत्व और क्षमता का उभार नही हो सका, लेकिन अब समय परिवर्तित हो रहा है। अब परिस्थितियाँ ऐसी निर्मित हो रही हैं जिसमे दक्षिण-एशिया सम्पूर्ण विश्व को सास्कृतिक-सामाजिक विविधताओ की सुन्दर, शीतल और सुखद परछाई तले जीने के नये गुर सिखा सकता है। इसलिए इतिहास को अलग-अलग धाराओ मे बाँटकर देखने की दृष्टि से मानवता, समाज या सस्कृति

का भला नही होने वाला है बल्कि इतिहासकरो को सम्पूर्ण समाज के आलोक मे सामूहिक प्रयास करने होगे: समाज-सुधारको की भूमिका के साथ। यदि हम विवादित मुद्दो पर ही उलझे-अटके रहेगे तो अनगिनत प्रश्नो की अन्तहीन श्रृखलाएँ उभरेगी जिनका कोई समाधान नही मिलने वाला है। इसलिए नए समाज के निर्माण मे बाजार, विज्ञान तथा गगा-जमुनी संस्कृति के तत्वो को अपनाने और प्रोत्साहित करने की आवश्यकता है ताकि एक नागरिक समाज का वास्तव मे निर्माण हो सके। इसके लिए इतिहास को एक सम्पूर्ण दृष्टि से देखने की आवश्यकता है न कि वर्तमान को अपनी संकीर्णताओ के कारण चौराहे पर खड़ा करने की जहाँ से हर रास्ता अनिश्चित नजर आता है।

24

दिशाहीन युग में दिशाओं की तलाश

जर्मनी के बादेन-बादेन शहर मे हाल ही मे *"इन्फारमेटिक्स और सायबरनेटिक्स"* की व्यवस्था और सजाल-तन्त्र पर एक अन्तर्राष्ट्रीय सगोष्ठी सम्पन्न हुई जो सूचना-तकनीकी और सायबरनेटिक्स पर केन्द्रित होने के बावजूद अन्तर्वैषयिक दायरे तक विस्तृत थी। वैचारिक आधार पर इसे इस विषय पर यूरोप का सबसे बड़ा सम्मेलन माना जाता है जिसमे प्रत्येक आयोजन के समय दुनिया भर से लगभग 800 विद्वान सम्मिलित होते हैं, हालाँकि अधिकाश प्रतिनिधि विद्वान अमेरिका, जापान और पश्चिमी यूरोप से ही होते हैं। इस बार सम्मेलन का मुद्दा यह था कि प्रगति के आलोक मे मनुष्य, मशीन और प्रकृति मे किस प्रकार से एक सतुलित और व्यावहारिक सामजस्य बैठाया जाए? इस मुद्दे पर नये सिरे से विचार करने की आवश्यकता इसलिए महसूस हुई क्योकि अब तक विश्व स्तर पर सामाजिक परिवर्तन और पूँजीवाद को समझने और विश्लेषित करने के जितने भी पैमाने थे, एक-एक करके परिवर्तित होती वैश्विक परिस्थितियो मे ध्वस्त होने लगे हैं और उन की प्रासगिकता चुकने लगी है। शीत युद्ध के दौरान उपजा यह विचार कि युद्ध नक्षत्रो के सहारे अतरिक्ष मे भी लड़ा जा सकता है और जिसके लिए *"नासा"* ने बकायदा एक खर्चीला और महत्वाकाक्षी कार्यक्रम भी क्रियान्वित किया था जो विभिन्न कारणो से धराशायी हो गया। राजनीतिक मामलो मे अमेरिका की नीति जो अप्रत्यक्ष तानाशाहो,

रखने की थी, वह भी धीरे-धीरे क्षीण होती गयी और शेष प्रजातन्त्रो को कमजोर बनाये रखकर अपनी विश्व-प्रभुता का दायरा बढ़ाने की उसकी मशा पर भी अब प्रश्न चिन्ह लगने लगे हैं। विकास के परिप्रेक्ष्य मे मशीन का बढ़ता हुआ वर्चस्व भी एक समस्या के रूप मे उभर कर सामने आ रहा है तथा विकास, जिसकी अब तक की जो परिभाषा, प्रक्रिया, विभिन्न चरण थे तथा जिसके पीछे पश्चिम का एक पूरा का पूरा सुनियोजित कार्यक्रम था, उसकी वास्तविकताएँ भी धूमिल होने लगी हैं। इसीलिए इस सम्पूर्ण वाद-विवाद प्रक्रिया मे जो बारीकियाँ उभर कर सामने आयी, उनमे पश्च-पूँजीवाद की प्रक्रिया की दिशा तथा इसके रुख से बनती हुई तस्वीर का भावी स्वरूप क्या हो सकता है, प्रमुख थी। अध्येताओ-विचारको का यह मानना था कि पश्च-पूँजीवाद की लहरे जब विकसित सस्थाओ से टकराती है तो सस्थाओ के मौलिक ताने-बाने को बेहद प्रभावित करती है जिससे पश्चिम का इसान अकेला होकर मशीनो पर क्रमश अधिकाधिक निर्भर होने लगता है। लेकिन जब इसी पश्च पूँजीवाद की रौ विकासशील देशो से टकराती है तो इसका प्रभाव उनके इतिहास और सस्कृति के पर्दो के खुलने के रूप मे सामने आता है जिससे अन्ध-धर्मवाद और धार्मिक कट्टरपन्थ के उभार के खतरे सामने आते हैं। मुख्य तौर पर पश्च-पूँजीवाद के प्रभाव नागरिक समाज या सभ्य समाज की सस्थाओ को मजबूत करने की बजाय कमजोर करते हैं। इस वाद-विवाद को लेकर जो नए "*पैरॅडाइम*" सामने आए है उनमे "*स्थायी विकास*" और "*सास्कृतिक जागरण*" जैसी अवधारणाओ पर नए सिरे से जोर दिया गया है। इसके साथ ही मनुष्य के जीवन मे निरन्तर बढ़ते मशीनी वर्चस्व और उसकी अनिश्चितता भी चर्चा के केन्द्र मे है। विकसित देशो मे एक समान विकास होने के कारण जहाँ एक ओर मशीनो का दबदबा बढ़ा है, वही दूसरी ओर इस वजह से व्यक्ति और व्यक्ति के जीवन की अनिश्चितताएँ भी बढ़ गयी है। लोग अनिश्चितताओ को रोकने के लिए एक बदलते हुए दृष्टिकोण के साथ विज्ञान और विज्ञानवाद की ओर मुड़ रहे है। इस सदर्भ मे बौद्धिको का यह भी मानना है कि इस सदर्भ मे भी नये पैमानो की आवश्यकता है कि किस तरह से विज्ञान को राजनीतिक एजेण्डे से दूर रखा जाए। तीसरा बड़ा मुद्दा जो उभर कर सामने आया वह यह है कि तकनीकी आधारो पर

दुनिया के एकीकरण के कारण विभिन्न स्तरो पर बढ़ती असमानताएँ, राज्यो की घटती क्षमताएँ तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर निरन्तर तथा तीव्र गति से हो रहे प्रव्रजन, बाजार का बढ़ता शिकंजा तथा प्राथमिकताएँ वर्तमान समय मे नये भय के रूप मे उभरी हैं। इस क्रम मे यूरोप का यह मानना था कि "*नाटो*" की भूमिका अब कमजोर होती जा रही है लेकिन बदली हुई परिस्थितियो मे इसे फिर से मजबूत बनाने की आवश्यकता है क्योकि 11 सितम्बर की घटनाओ ने यह सिद्ध कर दिया है कि अब सयुक्त राज्य अमेरिका जैसी विश्व-शक्ति "*नाटो*" को एक सैनिक साधन न मानकर औपचारिक उत्तरदायित्व के रूप मे देखती है। *अन्यथा* कोई वजह नही थी कि उसके बाद अमेरिका "*नाटो*" पर भरोसा न कर "*एडहाक*" या "*तदर्थ*" सामरिक गठबन्धनो से अपना काम चलाता। "*नाटो*" के कमजोर या निष्क्रिय पड़ने से विश्व-स्तर पर राजनीतिक सोच मे हो रहे परिवर्तनो की बाते भी उभरी हैं। ऐसी दशाओ मे आने वाली तस्वीरे "*नासा*" और "*नक्षत्र युद्ध*" के छुपे हुए उद्देश्यो को भी प्रकाश मे ला रही है। इसके पूर्व जो अमेरिका सशक्त आतरिक सुरक्षा और शक्तिशाली सुस्थापित प्रजातन्त्र के साथ "*मुक्त-समाज*" के लिए जाना जाता था, 11 सितम्बर के बाद स्पष्ट होने लगा है कि "*पूँजीवाद*" ने किस तरह से व्यक्ति को "*पिंजरबद्ध*" बनाकर रख दिया था। अब अमेरिका मे व्यक्ति की जीवन-शैली अमेरिकी मापदण्डो पर खरी नही उतर रही है और इसकी उन्मुक्तता पर पाबदियाँ लग गयी है। *मैक्स वेबर* का वह मशहूर वक्तव्य जिसमे तकनीकीवाद की बढ़ती हुई परछाइयो पर जोर दिया गया था, उसे अब पश्चिमी जगत यथार्थ के धरातल पर महसूस कर रहा है। पश्चिम के पास आज आतकवाद का मुकाबला सामरिक रूप से करने की क्षमता तो है लेकिन इससे बचने की कोई नीति या तकनीक नही है। अभी भी उसका प्रगतिपूर्ण विज्ञान उस बिन्दु को प्राप्त नही कर पाया है जहाँ से वह अपने समाज को आतकवाद से सुरक्षित भी बना सके और व्यक्ति की आजादी और समाज का मुक्त स्वरूप भी कायम रख सके। पश्चिम के व्यक्ति का व्यक्तित्व अब चद कार्डों मे सिमटने लगा है और अपने रग-बिरगे और अलग-अलग गुणवत्ता वाले चश्मो को पहने वो इन कार्डो की देखभाल और गणना मे ही अपनी उम्र बिता रहा है। आज पश्चिम कुछ अपवादो को छोड़कर मशीनी

वर्चस्व और यान्त्रिक अनिश्चितताओ मे डूबा नजर आता है क्योंकि पश्च-पूँजीवाद का जिन्न नियन्त्रण सीमा से बाहर निकल गया है। इसकी अनिश्चितताओ ने सामाजिक स्तरीकरण के एक नए प्रारूप को भी निर्मित करना प्रारम्भ कर दिया है जिसमे रगो का वर्गीकरण एक अच्छा खासा भाषा ज्ञान हो गया है। इस वर्गीकरण ने "मस्तिष्क" और "शरीर" का भी वर्गीकरण कर दिया है। "शरीर" को भाषा मे "अन्य" माना जाता है जिसे समाज या "अन्यो" के माध्यम से ही जाना भी जाता है। "मस्तिष्क" और "सोच" पर नियन्त्रण न होने से अब न तो यह "मस्तिष्क" ही अपना रहा और न ही यह "सोच" ही।

पश्च-पूँजीवाद के आगमन से पूर्व यूरोपीय एजेण्डे का सबसे बड़ा योगदान वैज्ञानिक आधारो वाली सोच और तार्किकता के साथ-साथ यान्त्रिक प्रवृत्ति वाले सामाजिक वातावरण मे विश्वास का वातावरण निर्मित करना भी था। लेकिन एक के बाद एक हुए और होते जा रहे कारपोरेट घोटालो "*एनरॉन, इंटर कम्यूनिकेशन आदि*" ने यूरोपीय विश्वास के इस स्वरूप को छोटे-छोटे टुकड़ो मे बॉट दिया है और "*विश्वास*" की प्रकृति ने अत्यन्त ही भुंगर और अस्थायी रूप ग्रहण कर लिया है। सभ्य समाजो के चिर-परिचित बिन्दुओ के अचानक लुप्त हो जाने से समाजो को जो झटके लग रहे हैं उसके दुष्परिणाम इतने गम्भीर हैं कि अब पश्चिमी समाज का समेकित रूप क्रमश अब क्षरित होता नजर आने लगा है। लेकिन यहाँ यह मान लेना अतिरेक के सिवा और कुछ नही होगा कि पश्चिमी समाज को सम्भालने और सवारने वाली प्रवृत्तियाँ और प्रकृतियाँ है ही नही। पश्चिमी समाज का मध्य वर्ग और उसकी *दिन प्रतिदिन की जिंदगी की तकनीकी आसानियाँ अभी भी समाज की जीवतता की* दिशा मे महत्वपूर्ण भूमिकाएँ निभा रही हैं लेकिन इस मध्य वर्ग और दैनिक जीवन की तकनीकी असानियो को सहारा प्रदान करने वाले राज्य के कल्याणकारी स्वरूप पर भी अब 11 सितम्बर के गुबार से उठे बादल मंडराते नजर आने लगे हैं। ऐसा इसलिए है कि उनके बहुत सारे लोग दक्षिण एशिया और उन क्षेत्रो से यूरोप-अमेरिका चले गये हैं जहाँ पूर्व मे राजनीतिक अस्थिरता के वातावरण थे। वर्तमान मे वे शरणार्थियो और प्रव्रजको के रूप मे विभिन्न शिविरो या योजनाओ मे आवटित स्थलो पर रह रहे हैं।

उनके पास उन देशो और वातावरण का समान या समानान्तर तकनीकी ज्ञान अथवा क्षमताएँ नही है। इनकी एक बडी तादाद उन देशो के कल्याणकारी प्रावधानो का उपयोग कर राज्य की अर्थव्यवस्था को बोझिल बना रही है। इनमे गैर-ईसाइयो की तादाद जिसमे मुसलमान ज्यादा है, यूरोप को नया आवासीय परिसर बना रही है। इसने यूरोप की भविष्याधारित चिताओ को नए रूप मे बढ़ा दिया है। ओस्लो जैसे छोटे शहरो मे ही 40,000 पाकिस्तानी बसे हुए है और कमोबेश यही हाल यूरोप के अन्य शहरो का भी है। यूरोप का जनसख्या सतुलन तेजी से बदल रहा है क्योंकि उनकी प्राथमिकताएँ बच्चो के पालन पोषण से ज्यादा कुत्ते-बिल्लियो के पालन पोषण पर स्थानान्तरित हो गयी है। परिणामत बच्चो की कमी, न्यून जनसख्या-दर और उच्च स्तरीय जीवन-शैली के कारण निम्न स्तरीय कामो के लिए स्थानीय लोगो की कमी ने उदारवादी प्रजातन्त्र और प्रव्रजन नियमो का एक नकारात्मक पहलू उक्त रूप मे ला खड़ा किया है।

यही वे बिन्दु थे जिनको बादेन-बादेन सम्मेलन मे एक व्यवस्था के अन्तर्गत समेटने का प्रयास किया गया था। सात दिनो की निरन्तर बहसो, अनथक विचार-विमर्शो और 500 प्रपत्रो पर हुइ चर्चाओ मे इन अनिश्चितताओ के कुछ निश्चत बिंदु ढूढ़ने के प्रयास किए गए। यह एक विडबना जैसा लगता है कि जहाँ यूरोप अपनी अनिश्चितताओ से उबरने के प्रयास कर रहा है, वही जापान 1948-54 तक के अपने ऐतिहासिक वर्चस्व की अनुभूतियो के दायरे से बाहर नही आ पा रहा है। जापान का मानना था कि द्वितीय विश्व युद्ध की जिस पीढ़ी ने विकास के लिए सबसे ज्यादा काम किया, उसकी अगली पीढी उतनी ही थकी और काम से दूर भागती नजर आ रही है। चूँकि जापान मे द्वितीय विश्व युद्ध के बाद रक्षा पर कोई खर्च नही था, इसलिए विकास के अधिकाश पहलू सिर्फ राष्ट्रीय विकास और अपने लोगो तक ही केन्द्रित थे। लेकिन नयी सोच अमेरिकी वर्चस्व से मुक्ति चाहती है और आत्मरक्षा को फिर से प्रारम्भ करने के बारे मे सशक्त रूप से उभर रही है। प्राथमिक तौर पर इनको भारत जैसे विकासशील देश दूर से ही देख रहे हैं। हालाकि लहरे हिंद महासागर से भी उठ रही है लेकिन इनकी रवानी मे अभी समय है।

25

बनारसः आरोपों की अतार्किकता

जब बनारस का जिक्र छिड़ता है तो कोई भी कहानी, कोई भी विश्लेषण पूर्ण नही हो पाता। हजारो साल पुराना प्राचीन बनारस अपने अतीत, वर्तमान को सदा नीरा गंगा की पावन लहरो मे लपेटे प्रतीत होता है। समय को अखण्डित रखने वाला यह अद्‌भुत शहर, बेशुमार लेखको और कथाकारो की जुबानी अपनी कहानी अलग-अलग रूपो मे सुनाता रहा है। पर हर कहानी अधूरी रह जाती है। शायद बनारस के विशाल कलेवर को एक बारगी समेटना सम्भव ही नही, शब्दो और वाक्यो मे।

ऐसा ही एक लेख अंग्रेजी की मशहूर वैचारिक पत्रिका "इकॉनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली" (ईपीडब्लू) के अप्रैल 2002 अंक मे प्रकाशित हुआ है जिसके लेखक मार्जिया कैसेलारी हैं। इन्होने "हिन्दू अस्मिता के उभार मे बनारस की भूमिका" शीर्षक लेख के माध्यम से बदलती हुई दुनिया के छिपे हुए डर को जो कि आज "धार्मिक राष्ट्रवाद" के रूप मे उभर कर भारत (सम्भवत विश्व स्तर पर भी) में सामने आ रहा है, को बनारस की ऐतिहासिक भूमिका के सन्दर्भ मे विश्लेषित करने का असफल और अधूरा प्रयास किया है। उल्लेखनीय है कि यह लेख, कही न कही 21वी शताब्दी की उन चर्चित पुस्तको पर आधारित या उनसे प्रभावित लगता है जो "संस्कृति और धर्म" पर आधारित है और जो "धर्मनिरपेक्षता" को मात्र एक अवधारणा के रूप मे देखते हैं। मार्जिया का मानना है कि बनारस मे विगत कई सालो

से हिन्दूवादी राष्ट्रवाद का विकास हो रहा है जिसकी जडे इस शहर की परम्परागत सास्कृतिक जमीन और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की निर्माण प्रक्रिया तक फैली हुई है। इस क्रम मे मार्जिया की ये मान्यता यहाँ तक विस्तृत है कि हिन्दुत्ववाद के इस चर्चित स्वरूप को उभारने और प्रसारित करने मे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के ख्यातिलब्ध सस्थापक पण्डित मदन मोहन मालवीय की भी महत्वपूर्ण भूमिका थी। इतिहास के कुछ हिस्सो, कुछेक विश्लेषणो और कुछ घटनाओ के आधार पर इस लेख ने न सिर्फ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मे बल्कि सारे देश मे इतिहास को पुनर्निरुपित और पुनर्व्याख्यिति करने की एक नई बहस छेड़ दी है। यह इतिहास को अपने हिसाब से "जस्टीफाइ" करने और इतिहास मे समाहित घटनाओ को "टेक्स्ट" मानने के तरीको-प्रयासो पर आधारित है। मार्जिया ने इसी परिप्रेक्ष्य मे भारत की वर्तमान राजनीतिक सरचना को देखकर और इसमे नयी प्रवृत्तियो के उभार को अपने स्तर से माप कर उसे बनारस की अस्मिता से जोड़ने के प्रयास किये हैं। इस प्रयास को देखने-सुनने वाले तो बहुत हैं लेकिन विश्वास करने वाले बहुत ही कम हैं क्योकि बनारस का आबाद हिस्सा प्रवासियो का भी नगर है और इसकी जड़े यहाँ की राजनीतिक अर्थव्यवस्था, सास्कृतिक प्रारूप और अलग-अलग जातियो-समुदायो के मेल-मिलाप और आपसी सामजस्य की चिर-उर्वरा मिट्टी मे बैठी हुई हैं। यह बनारस की सस्कृति है जिसे अभिभाषा मे "गगा-जमुनी तहजीब" के नाम से जाना जाता है।

विश्लेषणात्मक दृष्टि से मुगलो और अग्रेजो के शासनकाल मे बनारस की सरचना मे तीन मुख्य तत्व क्रमश गोसाइयो, सेठ-साहूकारो और बुनकर मुसलमानो के रूप मे थे। गोसाइयो के पास नगरीय सम्पत्ति काफी थी और मुख्यत ये धर्माधारित व्यवसायो से सम्बद्ध थे। साथ ही ये गुरु-शिष्य परम्परा मे बनारस की परम्पराओ को आगे बढाने वाले थे। इस समुदाय की एक खास बात थी कि इसमे प्रवेश या दीक्षा जन्म, वर्ण, समुदाय पर आधारित न होकर योग्यता पर आधारित थी। सेठ-साहूकारो का समुदाय दूर-दूर तक व्यापार करता था और इससे सम्बद्ध अधिकाश लोग आम तौर पर दक्षिण भारत, पजाब और बगाल से किसी न किसी रूप मे सम्बन्ध रखते थे। लेकिन गोसाइयो का सेठ-साहूकारो पर इस तरह का वर्चस्व था

कि वो आसानी से तीर्थ यात्रियो का भी अपने फायदे के लिये उपयोग कर लेते थे। इनके अलावा साधू, सेठ-साहूकारो, गोसाइयो, व्यापारिक मध्यस्थो आदि के बीच अच्छी खासी आदत तादात मुसलमानो की थी (अब भी है) जिनकी रोजी-रोटी मुख्यत: बुनकरी और व्यापार पर आधारित थी। शहर के व्यापार और अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध मे ज्ञातव्य है कि उन दिनो बनारस की प्रतिष्ठा "बैंकिंग" परिवारो के केन्द्र के रूप मे भी थी जिसके महत्व को अंग्रेजो ने भी स्वीकार किया था। भौगोलिक रूप से बनारस के पश्चिमी-पूर्वी व्यापार मार्ग पर स्थित होने के कारण इसका कई मायनो मे व्यापारियो और "वित्तीय सस्थाओ" के लिए आकर्षण था जिसके कारण एक सक्षम व्यापारिक समूह ने अपने वर्चस्व और एकाधिकार को बनाए रखने के लिए "नौप्रति परिवार" की स्थापना की और इसके माध्यम से बाह्य जगत से और अधिक व्यापारिक सम्बन्धो को स्थापित और सुदृढ़ किया। यह एक लम्बी प्रक्रिया थी, यहाँ तक की 18वी शताब्दी तक हम बनारस की राजनीतिक अर्थव्यवस्था मे यहाँ के सेठ-साहूकारों और राजा की विरासती भूमिका पाते है। "गगा", "मोक्ष" और "साक्षी संस्कृति" इसके केन्द्र मे है। विभिन्न कारको के प्रभाव मे बनारस में भी मुगलो की छाया 18वी शताब्दी से पड़ने लगी और ये एक पृथक सास्कृतिक-प्रारूप और मुस्लिम-मुहल्लो मे व्यवस्थित होने लगा। लेकिन कालान्तर मे इसमे भी परिवर्तन आया जब इलाहाबाद और लखनऊ आदि शहरो की सम्मिश्र सस्कृति का प्रभाव बनारस पर पड़ा। यह एक नयी प्रक्रिया थी जो सास्कृतिक सम्मिश्रण और सातत्यता के साथ एक नवीन आर्थिक सरचना को जन्म दे रही थी और उसे पाल-पोस रही थी, जिसका अस्तित्व भारत या कहे बनारस की ऐतिहासिकता मे इसके पूर्व देखने को नही मिलता। आजादी के बाद भी मुस्लिम बुनकरो और हिन्दू व्यापारियो, डीलरो की परस्पर अन्तर्निभरता तथा धार्मिक कर्मकाण्डीय व्यवस्था मे गोसाइयो के साथ अन्तर्क्रियात्मक सम्पर्क और भूमिकाओ की प्रक्रिया चलती रही। यदि इस पूरी प्रक्रिया को निष्कर्ष-वाक्य मे निरूपित किया जाए तो हम कह सकते हैं कि बनारसी मिजाज बनारस की आवश्यकताओ और बुनियादो पर टिका था और आज भी यह इतना सुस्थिर और सुदृढ़ है कि परिवर्तन के किसी भी दौर का इस पर कोई दीर्घकालिक प्रभाव पड़ने वाला नही है। यह किसी

व्यक्ति का ही नही बल्कि एक निरपेक्ष इतिहास का आकलन है। बनारस को समझने के क्रम मे मार्जिया ने शायद यही भूल की है।

मार्जिया का कहना है कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना का मुख्य उद्देश्य हिन्दुत्व का प्रचार-प्रसार और सैन्याधारित हिन्दुत्व को स्थापित करना था। हम समझते हैं कि मालवीय जी सदृश्य व्यक्तित्वो और उनके आदर्श कृतित्वो के सम्बन्ध मे ऐसी मान्यताएँ और विचार बनाना न सिर्फ विश्लेषणात्मक अतिवाद है बल्कि अब तक निरन्तर एक लय मे चलती आ रही सास्कृतिक सामजस्य और सौहार्द की प्रक्रिया पर एक कुठाराघात है जो आने वाली पीढ़ी को दिग्भ्रमित कर सकती है। यह एक सच्चाई है कि मालवीय जी ने विश्वविद्यालय निर्माण प्रक्रिया के प्रारम्भिक चरण मे गॉंधी जी को यहाँ आमत्रित किया था और इससे भी बड़ी ऐतिहासिक सच्चाई है कि गाँधी जी ने अपना पहला सार्वजनिक भाषण एक नौजवान मोहनदास करम चन्द गाँधी के रूप मे यही हिन्दी मे दिया था। यह एक विवादास्पद परन्तु राष्ट्र प्रेम की भावना से सराबोर भाषण था जिसका सभा मे उपस्थित राजा-महाराजाओ और यहाँ तक की ऐनी वेसेन्ट ने भी विरोध और आलोचना की थी। यह बताने की आवश्यकता नही कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन मे महात्मा गाँधी की क्या भूमिका रही है और कि भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन प्रत्येक स्तर पर एक समेकित राष्ट्रीय आन्दोलन था। इस आधार पर हम यहाँ तक मानते है कि ये मालवीय जी ही थे जिन्होने एक सौगात के रूप मे गाँधी को भारत की पीड़ित, शोषित और गुलाम जनता को मुक्ति दिलाने के लिए सौंपा। बाद का काशी हिन्दू विश्वविद्यालय समाज सुधार आन्दोलनो और राष्ट्रीय आन्दोलनो के सन्दर्भ मे निरन्तर निर्माणशील और कार्यशील सस्था के रूप मे सक्रिय रहा है। इस क्रम मे इसने सिर्फ हिन्दुत्व के प्रेरक व्यक्तियो को ही प्रेरित नही किया है बल्कि साथ ही वैज्ञानिको, राष्ट्रवादियो, क्रान्तिकारियो और धर्मनिरपेक्षता के अप्रतिम पहलुओ का भी सृजन किया। इसकी भूमिका सिर्फ एक प्रोफेशनल विश्वविद्यालय के रूप मे कार्य करने तक ही सीमित नही थी बल्कि इसने भारतीय जनमानस को अपनी नैतिक शक्ति की क्षमताओ का अहसास सफलतापूर्वक कराया। अंग्रेजो का वर्चस्व हमारी नैतिक कमजोरियो के कारण बना हुआ था न कि अग्रेजो की शक्ति के कारण।

इस विश्वविद्यालय का निर्माण भारतीय मूल्यो के क्षरण की प्रक्रिया को रोकने, नैतिकता, सुदृढ़ और लाभकारी परम्पराओ को पुनर्जागृत करने के प्रयासो के क्रम मे किया गया जिसके मूल मे हमारी महान् ज्ञान परम्परा के तत्व भी शामिल थे। ये बाते मार्जिया के सोच मे नही आ पा रही है क्योकि मार्जिया का अकादमिक पूर्वग्रह उसकी दृष्टि का दायरा सीमित कर देता है। यह कहना कि विश्वविद्यालय के निर्माण के लिए मालवीय जी ने धन और पैसा सिर्फ हिन्दुओ से लिया ताकि इसकी हिन्दू पहचान स्थापित हो, ऐतिहासिक और तथ्यात्मक रूप से गलत है। शायद निजाम और मालवीय जी का किस्सा मार्जिया ने नही सुना। अगर मालवीय जी कट्टपन्थी होते तो इस विश्वविद्यालय की आधिकारिक, कार्यालयीय भाषा अंग्रेजी नही होती बल्कि यहाँ शायद ज्योतिष आदि विषयो का वर्चस्व और हिन्दुओ का एकाधिकार होता।

इसके अतिरिक्त मालवीय को जानने-समझने के लिए उस युग के अन्य व्यक्तित्वो का उद्धरण देना भी आवश्यक है जिनमे धार्मिक शुचिता को हृदय से मानने वाले मौलाना अबुल कलाम आजाद जैसे लोग शामिल है। उनका युग ऐसा था कि जिसमे लोग अपने धर्म को हृदयगम करते हुए दूसरे धर्मो के प्रति ज्यादा उदार और सहिष्णु थे। आज स्थिति वैसी नही है, कुछ हद तक उल्टी है। मार्जिया का चश्मा इसी उल्टी स्थिति का चश्मा है जिसके साथ वो इस महत्त्वपूर्ण पहलू की अनदेखी तक कर जाते है।

अयोध्या की घटनाओ के बाद यहाँ की हवाओ का रुख जरूर बदलने लगा था और परम्परागत साझी संस्कृति और जीवन की हवाओ मे धार्मिक उन्माद की गर्म हवाएँ भी शामिल होने लगी थी, लेकिन उस समय भी विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति के नेतृत्व मे अध्यापको, कर्मचारियो, छात्रो तथा नागरिको ने प्रभात-फेरी के माध्यम से बनारस मे शान्ति को कायम रखने का सफल और साहसिक प्रयास किया जबकि अन्य विश्वविद्यालय खामोश और निष्क्रिय थे। "वाटर" फिल्म की शूटिंग के मामले मे भी यही बात थी। इससे यह सिद्ध होता है कि विश्वविद्यालय मे हर तरह की धाराएँ मौजूद हैं लेकिन सबसे प्रवाहमान वह है जो सदैव की भांति निर्मल और

निश्छल है। बनारस और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय अब भी परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिन पर सारे भारतवासियो और इसानियत को फक्र है, जिसके उदाहरण आज भी सकट और शान्ति दोनो की स्थितियो मे दिए जाते हैं। मार्जिया जी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस का एक स्वरूप और सक्रिय अग है, कृपया इसे इसी रूप मे देखिए।

छोडा नही गैरो ने कोई नाम के दुश्नाम,
छूटी नही अपनो से कभी तर्जे मलामत।
लेकिन इस इश्क या उस इश्क पे नादिल नही दिल,
हर दाग है इस दिल मे बज्जुजदाग-ए-नदामत।

26

मुश्किल है बनारस को अलविदा कहना

बनारस एक निराला शहर है। यहाँ की सुबह, गली-कूचे, बनारसी अदाज, उत्तरवाहिनी गगा, पान, साड़ियाँ और न जाने क्या-क्या कुछ किस्सो, कहानियो और किताबो मे समाया हुआ है, वास्तविकता या किंवदतियो के रूप मे हिन्दुस्तान मे भी और इसके बाहर सात समुन्दर पार तक। ये सब अपनी जगह हैं लेकिन अपने अनुभवो के आधार पर और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से भी बनारस का निराला स्वभाव और स्वरूप अन्य शहरो से सर्वथा अलग प्रतीत होता है जो आपको धीरे-धीरे जीत लेता है और किसी अन्य शहर का नही होने देता।

शुरू से ही काशी हिन्दू विश्वविद्यालय अध्ययन-अध्यापन तथा शोध कार्यों का एक महत्वपूर्ण केन्द्र रहा है। यहाँ प्राय प्रत्येक प्रान्त के छात्र, अध्यापक, शोधकर्ता तथा कर्मचारी रह चुके है, हालाँकि यह विचित्रता अब क्रमश कम से कमतर होती जा रही है। फिर भी प्रत्येक वर्ष बहुत सारे ऐसे अध्यापको-कर्मचारियो को जो कि बनारस के बाहर से यहाँ आए होते हैं, यह निर्णय लेना पड़ता है कि वे विश्वविद्यालय की सेवा से

अवकाश प्राप्ति के पश्चात् की जिन्दगी को कहाँ गुजारे। यह निर्णय लेना उनके लिए कठिन प्रतीत होता है पर इसलिए नही कि 20-30 वर्षो की सेवा पश्चात् विश्वविद्यालय-परिसर, यहाँ के चिर परिचित वातावरण और सगी-साथियो तथा सहकर्मियो से अलगाव उन्हे कष्ट देगा, बल्कि ऐसा नही है इसलिए कि विश्वविद्यालय की अभरती सरचनाएँ हैं जो पिछले कई दशको से निरन्तर शक्तिशाली होती जा रही हैं, वे अकादमिक और शैक्षणिक क्षेत्र मे मित्रता और सहयोग के वातावरण के विपरीत हैं। ये सरचानाएँ अनुशासन, प्रोन्नति, प्रतिबद्धता और दण्ड के सिद्धान्तो के मापदण्डो पर आधारित है परन्तु विडम्बना यह है कि इस पर भी कोई निश्चित और निर्धारित रूपरेखा नही है, इसका अनिश्चित स्वरूप केन्द्रित शक्ति पर निर्भर करता है जिसके इर्द-गिर्द बहुत सारे ऐसे ढाँचे निर्मित हो गए हैं जिनमे व्यक्तित्व और ज्ञान की उपादेयता, गुणवत्ता और मौलिकता नेपथ्य मे चले गये हैं। आज के परिवेश मे ऐसे व्यक्तियो की सख्या तेजी से बढती जा रही है जिनकी यह मान्यता है कि द्वेषपूर्ण आधारहीन आलोचना ही ज्ञान का सम्बल है और इसी के सहारे ही प्रभावशाली शक्ति केन्द्र के निकट एक योग्य या क्षमतावान अध्यापक के रूप मे आया जा सकता है। इस प्रवृत्ति के कारण विश्वविद्यालय मे सहयोगियो-सहकर्मियो के बीच मित्रता और पारस्परिक सम्बन्धो का वह स्वरूप आकार नही ले पाया है जिसके बल पर शिक्षा का मौलिक उद्देश्य पाया जा सके। आराम और फुर्सत के क्षण पाकर भी व्यक्ति व्यावसायिक और जोड तोड की मानसिकता से अलग नही हो पाता है। इसीलिए अवकाश प्राप्ति के बाद विश्वविद्यालय की जिन्दगी के बाद कोई ठोस आधार नही है इस निर्णय को कठिन बनाने का कि अब बाकी जिन्दगी बनारस मे ही व्यतीत की जाए या बनारस को अलविदा कह दिया जाए। पर कुछ तो है बनारस मे जो इस निर्णय को कठिन बना देता है। आखिर व्यक्ति को क्यो खीचता है अपनी ओर बनारस। क्यो बहुत मुश्किल प्रतीत होता है बनारस को अलविदा कहना।

यह कहना कोई नई बात नही है कि बनारस एक निराला शहर है। यहाँ की सुबह, गली-कूचे, बनारसी अन्दाज, उत्तरवाहिनी गगा, पान, साड़ियो और न जाने क्या-क्या कुछ किस्सो, कहानियो और किताबो मे समाया हुआ है, वास्तविकता या

किवंदातियो के रूप मे हिन्दुस्तान मे भी और इसके बाहर सात समुन्दर तक। ये सब अपनी जगह है, लेकिन अपने अनुभवो के आधार पर और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से भी बनारस का निराला स्वभाव और स्वरूप अन्य शहरो से सर्वथा अलग प्रतीत होता है जो आपको धीरे-धीरे जीत लेता है और किसी और शहर का नही होने देता। ऐसा क्या है इस बनारस मे भला। तो आइए इसका अक्स उतारते हैं और फिर देखले हैं।

आम परिभाषा मे या जनभाषा मे बनारस क्या है, किसी से पूछिए। जवान से बूढे तक, पढे-लिखे से अनपढ़ लोगो तक की बातो-रायो का सार यही निकलता है कि बनारस आधुनिकता को नकारता है। यहाँ की फुर्सत की जिन्दगी मे एक ठहराव है और इसे एक नवयुवक भले ही पसन्द न करे लेकिन एक वृद्ध, उम्रदराज व्यक्ति इस बात को भली-भाँति अपनाता है और इसमे जीवन की सार्थकता को ढूँढने का प्रयास करता है। यदि बनारस आधुनिकता को नकारता है तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि यह काल से परे है लेकिन फिर भी यह काल को खण्डित नही करता बल्कि यह उस आधुनिकता या परिवर्तन को नकारता है जिसने हमे विश्वविद्यालय जैसी द्रतिदुन्धता वाली व्यवस्था दी है यह उस आधुनिकता को नकारता है जिसने हमे यह बताया और सिखाया है कि जो व्यक्ति व्यवस्था के लिए प्रकार्यात्मक नही उसे जीने का कोई अधिकार नही है। यह उस आधुनिकता को नकारता है जहाँ लक्ष्यहीन और अन्तहीन भटकाव के रास्ते बन रहे हैं और व्यक्ति को मानवीय मूल्यों के स्थान पर भौतिकवाद को मानदण्ड ज्यादा लुभा रहे हैं। इसीलिए बनारस मे आप जब भी इसकी तग और घुमावदार गलियो मे घूमियेगा तो आपको प्रतीत होती कि आपके समक्ष सातवी-आठवी शताब्दी का काल खड़ा है। आज जब पश्चिमी समाज खुद अपनी आधुनिकता पर प्रश्न चिन्ह लगा रहा है तब भी बनारस अपने मस्ती और खिलदण्ड भरे अन्दाज मे कहकहे लगा रहा है। सभ्यता की दौड मे जिसे प्रगतिशील लोग सुस्ती कहते थे, बनारसी उसे मस्ती कहते हैं। यह मस्ती जिन्दगी का ठहराव है जो काल पर लगाम लगाती है और छोटे-छोटे स्वार्थो (जिससे किसी का कोई अहित नही होता) की कल्पना उभरती है। शायद यही कारण है कि यह अवकाश प्राप्ति के बाद यही रहने और जीने

की ललक देता है जो अन्य शहरो की भाग-दौड़ और तेजी मे न सिर्फ दम तोड़ देती है बल्कि बोझिल होकर कन्धो पर लद जाती है।

बनारस के दामन को सजाती हुई उत्तरवाहिनी गगा दो महाश्मशानो के बीच ढलती हुई, जीवन और मृत्यु के नाज को विश्वनाथ मन्दिर के साथ-साथ असख्य मन्दिरो के माध्यम से आँखो के सामने लाती है। यह एक अनोखा शहर है जहाँ मृत्यु का भय नही सताता और जीवन की चाह अभिलिप्सा का रूप नही ले पाती। इस शहर के पटल पर जीवन-मृत्यु के बीच ड्रामा ही ड्रामा नजर आता है और इसके माध्यम से जीवन के खोखलेपन को समझने-समझाने की भाषा भी मिलती है। यहाँ मृत्यु वास्तव मे एक अन्तराल, एक वक्फे के रूप मे नजर आती है जो लोक परलोक के बीच कड़ी है।शायद अन्य शहरो मे मृत्यु एक भयानक आवरण है जो जिन्दगी के जरा सा शेष रहते ही खुल जाता है। इसीलिए बनारस जीवन-मृत्यु के पहलूओ को एक ही पैमाने से नापकर आपको कही और जाने और भटकने से रोकता है।

कितना आसान है बनारस का जीवन। ये उनसे पूछिए जो अन्य शहरो के मध्यवर्गीय परिवेश मे रहते जीते हैं। बनारस एक सम्पन्न नगर होते हुए भी इसमे सम्पन्नता के दभ नही है। यहा के समाज वर्गों मे बँटे होने के बावजूद भी इनमे वर्ग चेतना नही है।

पान की दुकान पर आपको वही पान चबाते एक करोड़पति सेठ भी मिलेगा तो वही एक मेहनतकश मजदूर या दान पर निर्भर रहने वाला व्यक्ति भी। यही नही दोनो के बीच बतोले भी होते नजर आएँगे जिनका कोई खास सरोकार हो ये आवश्यक नही। फुर्सत के साथ पहरो पान चबाते हुए, एक सड़क से दूसरी सड़क तक, इस गली से उस गली तक बिना किसी वर्ग स्तर भेद के, बिना किसी रेलमपेलम के आपको बेशुमार भीड़ दिखेगी। यहाँ की सामन्जस्यकारी सभ्यता हर प्रकार के लोगो को परस्पर निर्भर बना देती है। यह बनारसी सस्कृति, जिसे हम व्यक्तियो का मुजूम जिसमे विभिन्न जातियो, धर्मों के लोग बिना किसी उथलपुथल के जीवन का

आनन्द ले रहे है। यही भीड़ इसी रूप मे यदि कहीं पश्चिम के किसी देश मे होती तो जिन्दगी किस रूप से होती कौन जाने, किसे पता। परन्तु सिर्फ भीड़-भाड़ ही नही है बल्कि समाज मे यान्त्रिक और सावयवी असन्तुलन और त्रुटियाँ भी हैं। यह प्रत्यक्षतः इस बात को प्रमाणित करता है कि यह नि-सार जीवन और कुछ नहीं बल्कि सिर्फ साँसो का हिसाब भर है और इसकी आसानी और सार्थकता इस बात पर निर्भर करती है कि इसे कितनी उपादेयता के साथ जिया जाता है। इसीलिए यहाँ बचपन और बुढापे मे कोई विशेष भेदभाव नही है, यहाँ की अव्यवस्था ही व्यवस्था है। यह शहर उस क्रम को नकारता है जिसे यूरोप ने 13-18 वी शताब्दी तक बनाया और जिसे अधिकाश शहरो ने दोनो हाथो से लपक लिया। इसीलिए बनारस की उलटी गंगा, बनारस की अव्यवस्था और बनारस का पुरानापन इतिहास पर कोई मुलम्मा नही चढाता, उस पर कोई फतवा जारी नही करता और अपने खिलन्दड़पन से लोगो को जीने के सबक और अन्दाज सिखाता है।

सुना है बनारस ने होली का पारम्परिक कवि-सम्मेलन त्याग दिया है। भला क्यो न त्याग दे। होली का मिथक चाहे जो भी रहा हो, समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से इसकी प्रासंगिकता उस समाज के एक खास वर्ग के लिए थी जो वर्णाश्रम पर आधारित था। एक ऐसा भी दिन जब आम और खास लोगो मे प्रस्थिति परिस्थितिजन्य दूरियाँ थी और इनमे पारस्परिक सम्बन्ध या हास-परिहास के अवसर अत्यन्त ही सीमित और सकुचित थे। .लेकिन होली रोजमर्रा की इन दूरियो को पाटकर एक नया खुशगवार वातावरण बनाती थी जो वर्ष भर की ताजगी लोगो को प्रदान करती थी। इसीलिए होली सामाजिक व्यवस्था के निम्न सोपान पर अवस्थित लोगो का त्योहार माना जाता है और यह सामाजिक समरसता का एक हेतु, एक सेतु था। अब, जबकि वो सामाजिक जाति व्यवस्था ही अपने पुराने रूप मे नही रही बल्कि यह राजनीतिक शक्ति की प्राप्ति की एक माध्यम भर बनकर रह गई है तो भला बनारस क्यो न होली के पुराने अन्दाज को त्याग दे। बनारस समय के साथ तो नही चलता पर यह समय को निर्देशित तो करता ही है।

बनारस किसी औपचारिकता का मुहताज नहीं है। इसको सँवारने और निखारने मे आम लोगो की भूमिका रही है और वे आम लोग ही थे जिन्होने ससार को जीने के दर्शन दिए हैं। इसमे कबीर के दोहे का रस, रैदास की वाणी, गुरुजनो और उस्तादो के सगीत की सुर-लहरियाँ शामिल हैं और अनगिनत साधु-सन्तो तपस्वियो की साधना तथा भग रसिको के नशे का गुरूर भी मिला हुआ है जो किसी प्रतियोगिता को नही मानता।

यही कारण है कि इसके मिजाज मे विश्वविद्यालय डिग्री की कोई मान्यता नहीं है बल्कि इसकी मिट्टी मे आम लोगो ने ऐसे कवियो, लेखको और विद्वानो को जन्म दिया है जिन्होन इसको आलोकित किया है, परन्तु ऐसा भी नहीं है कि बनारस दुनिया से कटा हुआ शहर है। शायद सोलहवी शताब्दी से पहले से ही (जब यूरोप मे आधुनिक पूँजीवाद आया) यहाँ की परम्परा मे जन्म से लेकर मोक्ष तक की पूरी प्रक्रिया का ही बाजारीकरण था जिसे यान्त्रिक चरम पूँजीवाद का यूरोपीय स्वरूप क्या जानेगा। इसीलिए बनारस से जुदा होने की सोच तगे कायनात याद दिलाती है। गालिब ने अपनी यात्रा के दोरान न सिर्फ अपनी थकान यहाँ दूर की बल्कि गगा के किनारे यहाँ के उजारो और मन्दिरो मे घटियो की आवाज देख सुनकर इसे दुनिया का चिरागे-दहर कहा था और आगे चलकर उन्होने चिरागे-दहर की प्रसिद्ध नज्म लिखी। वाकई बनारस उजालो का शहर है। यही कारण है कि अवकाश प्राप्ति के बाद बनारस के अलावा जीने का और कोई बेहतर सहारा नजर नही आता। बनारस

मैंने इस इश्क मे क्या खोया, क्या पाया,
जुज तेरे और को समझाऊँ तो समझा न सकूँ।

यह असीम विश्वास और फुर्सत का शहर है। गगा माई के स्नान से लेकर पचकोश के फेरो मे इसकी तकदीर सिमटी हुई है जिसमे कोई अन्तराल नहीं है और इसी का विस्तार व्यक्ति का सारा ससार और ससार का बाजारीकरण है जिसे बाकी दुनिया के शहर अनगिनत हिस्सो मे बँटकर जिन्दगी को जटिल बोझिल और दुरूह बना देते हैं। बनारस उससे नहस्त्न है जुदा है।

27

भारतीय समाज की सम्भाव्य प्रवृत्तियाँ

वैसे तो पूँजीवाद सतही तौर पर शहर-गाँव, व्यक्तिगत-सार्वजनिक आदि सबको समिश्र बना देता है और यह प्रक्रिया भी लम्बे समय से चल रही है लेकिन इसके अन्तर्निहित सामाजिक परिणामो के रूप मे हम कह सकते हैं कि आने वाले 15-20 वर्षों मे सामाजिक दूरियाँ क्रमश· बढ़ जाएँगी जिसके कारण परम्परागत संस्थाएँ न सिर्फ बिखर सकती हैं बल्कि एक ऐसे सामाजिक परिवेश के उभरने का भय है जिसमे व्यक्ति नितान्त अकेला और अलग-थलग पड़ सकता है। इसमे जहाँ एक ओर सामाजिक बन्धनो के बिखरने का डर है, वही जीविकोपार्जन के परम्परागत साधनो और तौर-तरीकों यथा कृषि-बागवानी, लघु एवं कुटीर उद्योग-धन्धो, व्यक्तिगत उद्यमो का अस्तित्व ही समाप्त हो सकता है।

भविष्यवाणियाँ करना मूलत ज्योतिषियो का कार्य है। ज्योतिषी व्यक्ति की विवशता को भविष्य की आकलित कल्पित झलक दिखलाकर कम करता है। इस परिप्रेक्ष्य मे हमे प्राय सम्पूर्ण विश्व मे और भारत मे भविष्यवाणियो की सुदीर्घ परम्परा के दर्शन

होते हैं। यह परम्परा मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष को न्यूनाधिक से स्पर्श करती प्रतीत होती है। आधुनिक समय मे जब हम समाजशास्त्रीय भविष्यवाणियो की चर्चा करते है तो इसमे समाज के विभिन्न आयामो के सन्दर्भ शामिल होते हैं, परन्तु यहाँ हम मुख्यत आधुनिकता के निदानशास्त्र और पूँजीवाद के भविष्य की चर्चा भारतीय समाज के विशिष्ट सन्दर्भ मे करेगे। इन दोनो के विषय मे वृहद स्तर पर सामाजिक विज्ञान की चिन्ताएँ वैसे तो 18वी शताब्दी से ही प्रारम्भ हैं लेकिन इसकी छाया भारत मे स्वतन्त्रता के पचास वर्षो के पश्चात् ही दिख सकी है। क्योकि वास्तव मे शीत युद्ध की समाप्ति के पश्चात् भारत भी उदारवाद और पूर्व-भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया के दायरे मे आकर पूँजीवाद की उसी रस्सी से बँध गया है जो प्रत्यक्ष तौर पर गाँव-शहर, केन्द्र-परिधि, प्रथा-परम्परा आदि सबको प्रभावित करती है। एक ऐसी स्थिति मे जब आधुनिकता और भूमण्डलीकरण के विभिन्न रग भारतीय समाज को रगने की प्रक्रिया मे सक्रिय हैं और जब प्राय प्रत्येक क्षेत्र मे सक्रमणशील वातावरण व्यक्ति की बेबसी को बढा रहा है, भविष्यवाणियाँ करना एक ऐसा मनोरजक और रोचक प्रयास बन जाता है जो स्वय भी इस दायरे मे आ जाता है। इसे हम किसी ज्योतिषी या भविष्यवक्ता के समक्ष हाथ खोले और भविष्य की जिज्ञासा लिए खड़े व्यक्ति की दशा को देखकर समझ सकते हैं, लेकिन पुन यदि हम समाजशास्त्रीय भविष्यवाणियो की बाते करते है तो प्रश्न उठता है कि इनका स्वरूप क्या है और आखिर क्या निहित है इनमे, और भविष्य के किन कालखण्डो तक इनका विस्तार रहेगा?

समाजशास्त्र के अनुसार समाज मे व्यक्ति की एक सक्षम, महत्वपूर्ण और सक्षम पीढ़ी 15-20 वर्षो की होती है और इस आलोक मे कोई समाजशास्त्री अपने आकलनो-अनुमानो के आधार पर आने वाले 15-20 वर्षो मे सम्भावित सामाजिक परिवर्तनो की ही रूपरेखा और दिशा तय कर सकता है, परन्तु सामाजिक परिवर्तन और परिवर्तन के अध्ययन-प्रारूप के बारे मे भी समाजशास्त्रियो के दो वर्ग हैं। प्रथम वर्ग मे वे समाजशास्त्री शामिल हैं जिनकी यह मान्यता है कि परिवर्तन की प्रक्रिया पर हमारा अधिकार और नियन्त्रण नही है, इसलिए इसके बारे मे हमे अध्ययन के अलावा चुप ही रहना चाहिए। इनका कहना है कि सामाजिक सरचनाओ का विश्लेषण करना और सामाजिक व्यवस्था के स्वरूप को प्रकट करना हमारा कर्तव्य है और चूँकि

समाजशास्त्री मसीहा नही हो सकता है, इसलिये समाज से सम्बन्धित उद्घोषणाओ और भविष्यवाणियो से उसे परे ही रहना चाहिए। परन्तु द्वितीय वर्ग स्वयं को एक उद्धारक-उद्वेलक मिशनरी के रूप मे देखता है जिसे समाज के भविष्य के बारे मे न सिर्फ चिन्तित और चिन्तनशील रहना चाहिए बल्कि उसमे परिवर्तन को नियन्त्रित और निर्देशित करने की क्षमता भी होनी चाहिए। इनकी मान्यता है कि भले ही इस प्रकार के कार्यो के सम्पादन और उत्तरदायित्वो के निर्वहन मे पुराने सिद्धान्त और नायक अपूर्ण अथवा असफल रहे हो लेकिन ऐसे प्रयास सतत् रूप से जारी रहने चाहिए। हमारी मान्यता भी इससे सम्बद्ध है क्योकि घटनाओ के विश्लेषण की प्रक्रिया एक प्रकार के दुहराव की प्रक्रिया है जिसे सी राइट मिल्स 'नैसर्गिकता के कष्टपूर्ण दुहराव' की संज्ञा देते हैं। इसे ध्यान मे रखते हुए समाजशास्त्र की उपादेयता और समृद्धि के लिए समाजशास्त्रियो को समाज और सामाजिक प्रक्रिया की मुख्य धारा मे स्वय को भी रखकर बौद्धिक उत्तरदायित्व के वातावरण का निर्माण करना चाहिए। इसी परिप्रेक्ष्य मे यहाँ भारतीय समाज के विशिष्ट सन्दर्भ मे आगामी बीस वर्षो पर एक समाजशास्त्रीय दृष्टि डालने का प्रयास किया जा रहा है।

वैसे तो पूँजीवाद सतही तौर पर शहर-गॉव, व्यक्तिगत-सार्वजनिक आदि सबको समिश्र बना देता है और यह प्रक्रिया भारत मे भी लम्बे समय से चल रही है लेकिन इसके अन्तर्निहित सामाजिक परिणामो के रूप मे हम कह सकते हैं कि आने वाले 15-20 वर्षो मे सामाजिक दूरियाँ क्रमश बढ़ जाएँगी जिसके कारण परम्परागत, संस्थाएँ न सिर्फ बिखर सकती है, बल्कि एक ऐसे सामाजिक परिवेश के उभरने का भय है जिसमे व्यक्ति नितान्त अकेला और अलग-थलग पड़ सकता है। इसमे जहाँ एक ओर सामाजिक बन्धनो के बिखरने का डर है, वही जीविकोपार्जन के परम्परागत साधनो और तौर-तरीको यथा कृषि-बागवानी, लघु एव कुटीर उद्योग धन्धो, व्यक्तिगत उद्यमो का अस्तित्व ही समाप्त हो सकता है। यह ग्रामीण और कस्बाई युवाओ की एक सम्भावित और उभयगामी प्रक्रिया के रूप मे सामने आ सकती है। इसके परिणामस्वरूप न सिर्फ शहरी केन्द्रो की कुल जनसंख्या और जनसख्या घनत्व बढ़ेगा, शहरी परिक्षेत्र मे वृद्धि होगी बल्कि विग्रामीणीकरण की प्रक्रिया अपने चरम स्तर पर पहुँच जाएगी। फलत· कृषि-मजदूरी महँगी और पन्जीकृत हो जाएगी

और कृषि फिर पूर्व की भाँति लाभप्रद नही रह जाएगी। .. और चूँकि शहरो मे उद्योग बहुराष्ट्रीय कम्पनियो के नियन्त्रण मे रहेगे, अत- इन मजदूरो के स्थाई और सुदीर्घ हितो के प्रति रुचि और नीतियो का अभाव रहेगा। इससे प्रत्येक स्तर पर अनिश्चितता और अस्थायित्व के वातावरण का निर्माण होगा जिसमे यदि कुछ अच्छा प्रतीत भी होगा लोगो को तो वह सपनो की तरह क्षणभगुर होगा। इस परिवेश मे ग्रामीण लोग शहरो के जादुई-तिलिस्म के सपने तो देखते रहेगे परन्तु दूसरी ओर शहरो की महँगाई और उपभोक्तावादी संस्कृति की केकड़ाजकड़ धन-सम्बन्धी तकनीक आधारित वर्गो के मध्य दूरी को ओर बढ़ाएगी। जन-सचार के माध्यमो से उपभोक्तावादी सस्कृति विज्ञापन सस्कृति पर ज़ोर देकर विभिन्न आलीशान और महँगी वस्तुओ को सबकी दृष्टि मे तो लाएगी, उनके उपयोग-उपभोग के प्रति अभिलिप्सा तो जताएगी लेकिन इन्हे खरीदने हेतु आम लोगो के पास पर्याप्त पैसा नही रहेगा। परिणामस्वरूप क्रय-शक्ति के अभाव मे विभिन्न स्वरूपो वाली अपराध की दुनिया का दायरा फैलेगा। लोग अपने सुरक्षा कवचो की तलाश मे धर्म, राजनीति, माफिया की शरण मे जाएँगे और परस्पर अन्तर्सम्बन्धित यह तिकड़ी एक विकासशील और व्यापक आधारो वाला उद्योग बन जाएगी जो किशोरवय मासूमो को सरलता से अपनी ओर आकर्षित करेगी।

वर्धन के अनुसार श्रम-विभाजन से नगरीय सस्कृति उत्पन्न होगी और इसका विस्तार होगा। यह एक प्रकार का भ्रम है कि श्रम-विभाजन से नगरीय सस्कृति का प्रसार होगा जिसको बाजार की शक्तियाँ निर्देशित-नियन्त्रित करेगी। यह कहना कि भारत मे एक हजार सिगापुर होने चाहिए और इसी प्रतिनिधि-सस्कृति मे भारत का हित-कल्याण है, एक प्रकार का मायाजाल है जो परम्परागत और प्रकार्यात्मक सस्थाओ की गुरुता को खण्डित कर सकता है। नई सस्थाएँ जो इस प्रतिनिधि-सस्कृति का प्रतिरूपण और प्रस्तुतिकरण करती है, उन्हे दूरदर्शन और दृश्य-माध्यमो से आकर्षक रूप मे लोगो के सामने आभासी रूप मे परोसा जा सकता है लेकिन वह लोगो के वास्तविक जीवन को कुछ सकारात्मक नही देने वाली, सिवाय धूमिल-धूसर उदास छायाओ के। क्योकि आगामी बीस वर्षों की अवधि मे ग्रामीण से शहरी युवजन का ताँता निरन्तर बढता ही जाएगा जो व्यक्ति को बहुआयामी परन्तु अपरिपक्व और

अस्थाई अस्तित्व को अपनाने को बाध्य करेगी। इस क्रम मे कभी वो स्वय को धर्म से, कभी जाति से, कभी प्रजाति से, कभी क्षेत्र से, कभी व्यवसाय से तो कभी वर्ग से सम्बद्ध करके देखेगा क्योकि पड़ोस, नातेदारी और कुल जैसे प्राथमिक सम्बन्धो के बिखर जाने से उसके पास अपनी मौलिक पहचान बचेगी ही नही। ऐसी स्थिति मे वह बहुआयामी अस्तित्व या पहचान अपना कर भी अस्तित्वहीन महसूस करेगा स्वय को और वह एक विसंगतिपूर्ण व्यक्ति बन कर रह जाएगा। उसके पास नगरीय और पूँजीवादी संस्कृति की सारी पहचान यथा धन-सम्पदा, आराम-विलासिता, गति आदि तो होगी, लेकिन प्रेम, दु ख-दर्द बाँटने की क्षमताएँ नही होगी। सब लोग अपनी सुनाना चाहेगे लेकिन उनके पास दूसरो की सुनने की मानसिकता नही होगी। इस सुनाने की प्रक्रिया मे व्यक्ति अपनी परेशानियो और दुष्चिन्ताओ को अनेको को सम्प्रेषित करना चाहेगा। वह विवशतावश उन संस्थाओ को तोड़कर उनके दायरो से बाहर निकलने का प्रयास करेगा जिन पर आज से बीस वर्ष पूर्व वह गर्व करता था, लेकिन विडम्बना यह होगी कि उस पर उसके अतीत की छाया तब भी पड़ती ही रहेगी। विवाहो के जश्न और परिवेश के ताम-झाम का प्रदर्शन तो खूब रहेगा, लेकिन न सिर्फ विवाह-विच्छेदो की सख्या बढ़ेगी, बल्कि विवाहपूर्व और विवाहोत्तर सन्बन्धो की ओर समाज त्रासद रूप में भागता नजर आएगा। यह दौड़ ही समाज के बिखराव का कारण और परिणाम होगी।

प्राथमिक सरचनाओ के बिखराव के बाद गाँवों और शहरो मे तब मात्र भौतिक प्रगति और स्तर ही सन्दर्भ रहेगा और इस सन्दर्भ का कोई निश्चित पैमाना नही होने के कारण व्यक्ति और समाज के अन्तर्द्वन्द्व, जातिगत और साम्प्रदायिक सघर्षो की ओर जुड़ जाएँगे। साम्प्रदायिकता के मापदण्ड भी मोटे तौर पर समुदाय से सन्बद्ध नही होगे बल्कि सम्प्रदाय स्वय लघु और भिन्न समुदायो मे बँटकर साम्प्रदायिकता के आयाम को नकारात्मक रूप से विस्तृत कर देगे।

ऐसा इसलिए होगा कि धर्म जो धर्मशास्त्रो, आध्यात्मिकता और दर्शन पर आधारित है, पर भी पूँजीवाद का इतना गम्भीर असर पड़ेगा कि ये भी अपना आनुपातिक सन्तुलन बनाए रखने मे असफल हो जाएँगे इसके कारण धर्मशास्त्रो को बढ़ावा मिलेगा। परिणामत॰ धर्म मे किस्से-कहानियाँ, गल्पो, भय, दण्ड आदि का पुन-

प्रचलन होगा। भारत मे प्रारम्भ से अब तक धर्म, धर्मशास्त्रो पर आध्यात्मिकता से सूफीवाद, दर्शन से षड्दर्शन और इन दोनो के सयोग से बनता-बुनता हुआ भारत था वही धर्मशास्त्रो की भूमिका समाजीकरण की प्रक्रिया को सशक्त और प्रभावी करने के औपचारिक स्तर तक सीमित रहती थी, लेकिन पूँजीवाद आध्यात्मिकता और दर्शन को इस भाँति अलग कर देता है कि अन्तत व्यक्ति के समक्ष धर्मशास्त्रो के अलावा कुछ नही बचता और तब हमे अन्यो को पीडित, दमित और दण्डित करने वाले एक भद्दे माध्यम के रूप मे दिखाई देता है। आने वाले बीस वर्षो मे हमे धर्म का यह स्वरूप देखने को मिल सकता है।

यह सही है कि समाज मे व्यक्ति बदलते हैं, शैलियाँ बदलती हैं और सस्थाओ का स्वरूप तथा सामाजिक प्रक्रियाओ की दशा और गति बदलती है, लेकिन जो नही बदलती — वह है शक्ति प्राप्ति की अभिलिप्सा। शक्ति के माध्यम से ही व्यक्ति समूह या समाज अपना वर्चस्व बनाए रखने का प्रयास करता है। भारत मे स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद जो राजनीतिक शक्ति एक पढे-लिखे नवीन मध्यवर्ग को मिली थी, वह अब उससे दूर होती जा रही है। साथ ही ये वर्ग स्वय भी अपने आप को इससे विलगित करने के प्रयास करता दिख रहा है जो आगे और जोर पकड़ेगा। परिणामस्वरूप तब राजनीति स्वस्थ मद्दो, आदर्श समाज या जन-कल्याण जैसे बिन्दुओ पर न ठहर कर व्यक्ति और शक्ति की पहचान की दुखती नश पर हाथ रखने की प्रवृत्ति वाली बन जाएगी जो व्यक्ति, समूह तथा समाज को बिखराव की अन्तहीन गहराइयो मे ढकेल सकती है। ऐसी स्थिति मे जो नेता जितना ही जातिवादी और साम्प्रदायिक होगा, वह अपने ही समूह और धर्म के बिखराव के लिए दूसरे समूहो और धर्मो की सहायता लेगा और अपने क्षेत्र मे सफल होगा। स्वाभाविक रूप से राजनीति वैचारिकी का परित्याग कर देगी और गुटबाजी, भ्रष्टाचार, अपराध, एकाकी व्यक्तियो, समुदाय, जाति और सम्प्रदाय को अपना आधार बनाएगी। राष्ट्र तब राजनीति के केन्द्र से परे कही परिधि पर नजर आएगा।

सियाबख्ती इस दिल की नही जाती है फिराक,
शमा के सिर पर जो धुआँ था तब, सो अब भी है।

संदर्भ-ग्रन्थ सूची

Adorno, T.W. (1967). *Prisms*, trans. S. and S Weber, Neville Spearman.

Adorno, T.W (1974) *Minima Moralia*, New Left Books.

Adorno, T.W. and Horkheimer, M. (1972). *The Dialectic of the Enlightenment*, New Left Books.

Ali, T. (1991) *The Nehrus and The Gandhis. A Dynasty*, Picador.

Althusser, L. (1969). *For Marx*, New Left Books.

Althusser, L. (1971). *Lenin and Philosophy*, New Left Books

Anderson, P. (1968). 'Components of the National Culture', *New Left Review*, 50, 21-3.

Anderson, P. (1976-7). 'The Antinomies of Antonio Gramsci', *New Left Review*, 100, November-January.

Anderson, P. (1992). *English Questions*, Verso.

Anscombe, G.E.M. (1957). *Intention*, Oxford University Press.

Ashby, M K. (1974). *Joseph Ashby of Tysoe* (ed. and intro by E.P. Thompson), Merlin Press.

Austin, J.L. (1961). *Philosophical Papers*, Clarendon Press.

Austin, J.L. (1962). *How to Do Things with Words*, J O Urmson (ed), Clarendon Press.

Austin, J L (1962) *Sense and Sensibilia*, Clarendon Press

Ayer, A J (1959) *Language, Truth and Logic* Penguin

Bakhtin, M (1968) *Rabelais and His World*, MIT Press

Baldick, C (1983) *The Social Mission of English Criticism* Basil Blackwell

Bamford, S (1844) *Passages in the Life of a Radical*, MacGibbon and Kee (1967)

Barrell, J (1992) *Painting and the Politics of Culture*, Oxford University Press

Barry, B (1965) *Political Argument* Routledge & Kegan Paul

Baxandall, M (1972) *Painting and Experience in 15th Century Italy*, Faber & Faber

Baxandall, M (1985) *Patterns of Intention*, Yale University Press

Bell, D (1962) *The End of Sociology On the Exhaustion of Political Ideas in the Fifties*, Free Press

Bellow, S (1982) *The Dean's December* Secker & Warburg

Benjamin, A (1991) *Art, Mimesis and the Avant-Garde*, Routledge

Berger, J (1988) 'From "Who Governs?" to "How to Survive?"' *New Statesman*, 11 March

Berlin, I (1959) *Four Essays on Liberty*, Clarendon Press

Berlin, I (1976) *Vico and Herder Two Studies in the History of Ideas*, Hogarth Press

Berlin, I (1977) 'The Hedgehog and Me Fox', in H Hardy (ed), *Russian Thinkers*, Hogarth Press

Berlin, I (1978) *Concepts and Categories*, Hogarth Press

Bernstein, R (1976) *The Restructuring of Social and Political Theory*, Harcourt Brace Jovanovich

Bourdieu, P (1977) 'The Production of Belief Contribution to an Economy of Symbolic Goods', *Actes de Recherche en Science Sociale*, 13, 3 43

Bourdieu, P. (1984). *Distinction: A Social Critique of the Judgement of Taste*, Routledge & Kegan Paul

Braudel, F. (1986). *L'Identite de la France*, Arthaud-Flammarion.

Burn, J.D. (1855). *Autobiography of a Beggar Boy*, London

Burrow, J. (1983). A *Liberal Descent*, Cambridge University Press

Carr, E. H. (1961). *What is History?*, Macmillan.

Chomsky, N. (1969). 'The Responsibility of Intellectuals', in his volume of essays, *American Power and the New Mandarins*, Pantheon Press

Collini, S., Winch, D. and Burrow, J. (1983) *That Noble Science of Politics*, Cambridge University Press

Connor, S. (1992). *Theory and Cultural Value*, Basil Blackwell.

Conrad, J. (1986) *The Shadow Line*, Penguin.

Culler, J (1976). *Saussure Fontana Modern Masters*, Fontana-Collins

Darnton, R (1980) *The Business of Enlightenment A Publishing History of the Encyclopedie 1775-1800*, Harvard University Press

Davidson, D. (1984). 'On the Very Idea of a Conceptual Scheme', in D. Davidson, *Inquiries into Truth and Interpretation*, Oxford University Press, 183-99

Debord, G. (1977) *The Society of the Spectacle* Black & Red Press.

Dollimore, J. and Sinfield, A. (1989) *The Shakespeare Myth*, (ed. G. Holderness), Manchester University Press

Doyle, B. (1989). *English and Englishness*, Routledge

Dunn, J. (1980). 'The Quest for Solidarity', *London Review of Books*, 24 January.

Dunn, J. (1985) *Rethinking Modern Political Theory*, Cambridge University Press.

Eagleton, T (1983) *Literary Theory An Introduction*, Basil Blackwell

Eagleton, T (1990) *The Ideology of the Aesthetic*, Basil Blackwell

Eagleton, T (1991) *Ideology An Introduction*, Verso

Elster, J (1984) *Ulysses and the Sirens Studies in Rationality and Irrationality*, Cambridge University Press

Elster, J (1986) *Sour Grapes Studies in the Subversion of Rationality*, Cambridge University Press

Elster, J (1990) 'When Communism Dissolves', *London Review of Books* 25 January, 3-6

Elster J (1991) *Solomonic Judgements Studies in the Limitations of Rationality*, Cambridge University Press

Evans Pritchard, E (1950) *Death and Witchcraft Among the Azande*, Oxford University Press

Fiori, G (1970) *Antonio Gramsci*, trans T Nairn, New Left Books

Foot, P (1978) 'Moral arguments', in P Foot, *Virtues and Vices and Other Essays in Moral Philosophy*, Basil Blackwell, 96 110

Foucault, M (1966) *The Archaeology of Knowledge*, Tavistock Press

Foucault, M (1968) *The Order of Things*, Tavistock Press

Foucault, M (1977) *Discipline and Punish The Birth of the Prison*, Penguin

Foucault, M (1981) *History of Sexuality*, Vol 1, Penguin

Frost T (1880) *Forty Years Recollections*, London

Fussell, P (1975) *The Great War and Modern Memory*, Oxford University Press

Galbraith, J K (1992) *The Culture of Contentment*, Sinclair-Stevenson

Geach, P and Black, M (eds) (1952) *Translations from the Philosophical Writings of Gottlob Frege*, Basil Blackwell

Geertz, C. (1975). *The Interpretation of Cultures*, Hutchinson

Geertz, C. (1983) *Local Knowledge Further Essays in Interpretive Anthropology*, Basic Books.

Geertz, C. (1988) *Works and Lives The Anthropologist as Author*, Stanford University Press.

Gellner, E. (1961) *Words and Things*, Penguin.

Geuss, R. (1981) *The Idea of a Critical Theory*, Cambridge University Press.

Giddens, A (1985) *The Nation-State and Violence*, Polity Press

Giddens, A (1990) *The Consequences of Modernity*, Polity Press

Gould, S J (1988) *Wonderful Life The Burgess Shale and The Nature of History*, Penguin.

Gowing, L (1985) 'Human Stuff', in N. Spice (ed.), *London Review of Books*, Chatto & Windus

Gramsci, A (1974) *Selections from the Prison Notebooks*, ed and trans Q Hoare and G. Nowell-Smith, Lawrence & Wishart

Greenblatt, S (1990) *Learning to Curse Essays in Early Modern Culture*,Routledge.

Grossberg, L , Nelson, C and Trichler, P (eds) (1992) *Cultural Studies*, Routledge.

Habermas, J (1972) *Knowledge and Human Interests*, Heinemann Educational Books

Hall, Stuart, David, Held and Tony, McGraw (eds) (1992) *Modernity and Its Futures*, Cambridge Polity Press, 61-102.

Harvey, David (1989). *The Condition of Post-modernity*, Oxford Blackwell.

Held, David (1995) *Democracy and The Global Order*, Cambridge. Polity Press.

Hobsbawn, Eric (1990). *Nations and Nationalism Since 1780*, Cambridge University Press.

Marx, Karl and Frederick Engels. *Collected Works, Vol 8,* London Lawrence and Wishart

Onglis, Fred (1993) *Cultural Studies United Kingdom,* Blackwell

Oommen, T K (1990) *Protest and Change,* New Delhi, Poverty and Historicism, Routledge and Kegan Paul

Oommen, T K *Nation, Civil Society and Movements,* New Delhi, Sage

Singh, Yogendra (1973) *Modernisation of Indian Tradition,* Delhi, Thomson Press

Zygmunt, Bauman (1998) *Globalisation,* Polity Press

